* आत्मानुशीलनम् *

रचयिता।

वैद्य प्रभुदयाल शास्त्रीधान

सरस्वती ग्रन्थमाला

पञ्चम पुष्प

प्रकाशक

सरस्वती ग्रन्थमाला

मुख्य कार्यालय
ए-२८, जनता कॉलोनी
जयपुर-३०२००४

कार्यालय
२१५१ हैदरी भवन
मनिहारो का रास्ता
जयपुर ३

मूल्य ३१.००

प्रकाशकीय

वैद्य प्रभुदयाल जी कासलीवाल की यह एक और नयी देन (नूतन रचना) हमारे समक्ष है। इससे पूर्व इनकी अन्य कृतियो मे आत्मविनिश्चयम्, प्रवचनसार प्रकाश, समयसार प्रकाश, पचास्तिकाय प्रकाश आदि प्रमुख कृतिया समाज द्वारा बहुत आदृत हुई है। कासलीवाल जी का यही प्रयत्न रहता है कि जन सामान्य भी जैन धर्म एव दर्शन को भलीभाति समझ सके। शायद इसलिये ही उन्होने पूर्व ग्रन्थो मे कुन्दकुन्दाचार्य के प्राकृत गाथाओ मे निबद्ध ग्रन्थो को न केवल सरल हिन्दी पद्यानुवाद ही किया है अपितु अपनी रचना को हिन्दी गद्य के माध्यम से भी जनजन के लिए उपयोगी बनाया है। निश्चय ही वे विषय सामान्य लोगो की रुचि के विषय बन गये है।

वैद्य कासलीवालजी जिस किसी भी ग्राम, नगर या मन्दिर मे प्रवास करते है, वहा धर्म कथन, तत्व चर्चा आदि विभिन्न प्रसग चलते ही रहते है उन अवसरो मे समागत जन जिज्ञासा-शान्ति, ज्ञानलाभ तथा जीवन सम्बल के लिए अनेक बहुमूल्य विचार प्राप्त कराते है। इसके अलावा अवशेष समय मे स्वाध्याय चलता रहता है। वे हर समय अध्यात्मिक चर्चाओ के अतिरिक्त दार्शनिक एव गूढ विषयो को जानने की उत्कट अभिलाषा लिये रहते है।

जैन साहित्य गद्य तथा पद्य दोनो ही रूपो मे अपनी ज्ञान स्रोतस्विनी प्रवाहित करता है। लगता है जैन साहित्य मे प्रश्नोत्तर के रूप मे तत्व, धर्म, दर्शन ओर विज्ञान का प्रकटीकरण करके लेखन के क्षेत्र मे एक विशिष्ट वर्ग का ही प्रादुर्भाव कर दिया है। गहन गम्भीर विषयो को साधारण से साधारण व्यक्ति भी हृदयगम कर सके सम्भवत इसलिए ही इस नवीन प्रकार को यहा उपस्थित किया है। ऐसे भी जैनो के सम्पूर्ण आगम साहित्य मे सरलता पर अधिकाधिक ध्यान दिया है। कुछ तात्विक तथा दार्शनिक स्थलो पर प्रारम्भ मे कही-कही दुरूहता का आभास भी हो सकता है पर कुछ अभ्यास के पश्चात् वहा भी पाठक को

आत्मानुशीलनम् नामक इस रचना को श्री वैद्य गम्भीरचन्द जी ने दस अधिकारों में सजाया है। ये हैं—प्रथम—आत्म परिचय अधिकार, द्वितीय—ज्ञाता दृष्टा अधिकार, तृतीय—आश्रव अधिकार, चतुर्थ—बन्ध अधिकार, पचम—निर्जरा अधिकार, षष्टम—पुण्य-पाप अधिकार, सप्तम—संवराधिकार, अष्टम्—मोक्षाधिकार नवम—विशिष्ट ज्ञान अधिकार। दशम निष्कर्ष रूप मे है।

आत्मा का यथार्थ स्वरूप आत्मसात् करने मे तथा अध्यात्म साधना मे आगे बढने मे सभी पाठकों के लिए यह रचना विशेष लाभ दायक होगी ऐसी मेरी आशा है। मेरी भावना है कि ये दीर्घायु हों तथा इसी प्रकार आध्यात्मिक, कल्याणकारी साहित्य से लोगों को अपने कल्याण के लिए प्रोत्साहित करते रहे।

जैन अनुशीलन केन्द्र
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर।

डा. प्रेमचन्द्र जैन

प्राक्कथन

आत्म ज्ञानी बनने की इच्छा साधुओ के समान ही गृहस्थो मे भी होती है। आज यदि गृहस्थ आत्म-ज्ञान प्राप्त करले तो वह गृहस्थ होते हुए भी साधु ही है। लेकिन आत्मिक ज्ञान प्राप्त करना सरल नही है, वह पढने लिखने की वस्तु नही है। पचासो ग्रन्थो का स्वाध्याय करने वाला भी आत्म ज्ञान से अछूता देखा जाता है और बिना पढा-लिखा भी ज्ञानी बन सकता है। यदि जीव ने स्व पर की भेद दृष्टि प्राप्त करली हो, राग एव ममत्व को परख हो तो वह आत्म ज्ञान प्राप्त करने की दिशा मे एक कदम रखने योग्य बन सकता है, लेकिन इसके लिए वह आत्मानुशीलन करे, आत्म चिन्तन मे उतरे तथा वस्तु एव द्रव्य को जैसा है वैसा ही जानने की शक्ति प्राप्त करे तो यह सब कुछ सम्भव है।

आत्मानुशीलनम् रचना इस दिशा मे महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करती है। इसके रचयिता श्री प्रभुदयाल कासलीवाल है, जो विगत कुछ वर्षो मे आत्म चिन्तन एव मनन मे लगे हुए है, आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य समन्तभद्र, अकलक आदि के आध्यात्मिक ग्रन्थो का पारायण करके उनमे रम जाने का सतत् प्रयास कर रहे है। प्रवचनसार, पचास्तिकाय एव महान् ग्रथ समयसार का आपने पद्यानुवाद भी किया है, अत प्रस्तुत आत्मानुशीलन उनके सतत् चिन्तन एव मनन का सुन्दर उपहार है, जो वे पाठको को मुमुक्षुओ को अपनी ओर से दे रहे है। पुस्तक का एक-एक शब्द चाहे वह पद्य हो या गद्य हो, उनकी लेखनी से निकला हुआ है। प्रस्तुत पुस्तक को रचनाकार ने आत्म परिचय अधिकार, ज्ञाता दृष्टा अधिकार, आस्रव अधिकार, सवर अधिकार, निर्जरा अधिकार, पुण्य-पाप अधिकार, बन्ध अधिकार, मोक्ष अधिकार एव विशिष्ट ज्ञानाधिकार नो अधिकारो मे विभक्त किया है तथा दशम निष्कर्ष रूप मे है। इस प्रकार नाम से नही उनके अधिकारो एव उनमे वर्णित सामग्री से भी यह कृति आत्मानुशीलन जैसे नाम की यथार्थता प्रकट करने वाली है। आत्म तत्व को प्राप्त करने का उपाय बतलाते हुए लिखते है—

जगत वस्तु से निर्मम बनकर आत्म तत्व जो ध्याता है।
आत्म स्थिति के हो जाने से आत्म तत्व वह पाता है ॥१६३॥

और जब यह मानव आत्म तत्व को जान लेता है तो वह आत्म स्थित होकर कर्मो के जाल से छुटकारा पाकर मुक्ति को प्राप्त कर लेता है।

आत्म स्थिति से कर्मो का आना ,निश्चित रुक जाता है।
कर्मो के रुक जाने से नोकर्म रोध हो जाता है।
कर्म और नोकर्म रोक संसार रोध कर पाता है।
संसार रोध हो जाने पर यह जीव मुक्ति को पाता है ॥१६५॥

पुण्य और पाप के प्रश्न पर भी रचनाकार ने अपनी कृति मे पर्याप्त प्रकाश डाला है। उनके अनुसार आत्म ज्ञान प्राप्त करने के लिये सभी उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक् चारित्रमय होने चाहिये। व्रत, तप, दया, ज्ञान, स्वाध्याय वगैरह पुण्यास्रव के कारण है, लेकिन परम्परा मे मोक्ष के कारण बन सकते है। वे वर्तमान मे मधुर फल के समान है।

यद्यपि आत्मज्ञान होने तक सब चेष्टा बन्धन कारी।
तदपि दान दया अरु भक्ति कर अवश्य बन उपकारी॥
जो अमृतफल प्राप्त न हो तो अन्य मधुर फल ही खावे।
दोनो ही यदि नही मिले तो भी विषफल को न खावे॥

इस प्रकार इस आत्मानुशीलन रचना मे, विषय को स्पष्ट करके समझाया गया है। इस पुस्तक मे सात-सौ पद्य है जिनको गद्य मे भी स्पष्ट कर टीकाकार का कार्य किया है। पुस्तक की भाषा एव शैली दोनो आकर्षक है, तथा स्वाध्यायी स्वभाव वाले पाठक को सहज मे ही आकृष्ट करने वाली है।

एक ही विद्वान मे गद्य और पद्य लिखने की आदत नही होती लेकिन वैद्यजी इसमे अपवाद है और यह गति उन्हे ४-५ वर्षो मे ही प्राप्त हुई है जो अत्यधिक प्रशसनीय है तथा आश्चर्यकारी है। पुस्तक रचनाकार इसी प्रकार पाठको को अपनी अनुभूति पूर्ण रचनाये देते रहे हमारी मगल कामना है। ऐसी उपयोगी पुस्तक का हम स्वागत करते है।

अमृतकलश, बरकत नगर
किसान मार्ग, जयपुर
२७-१२-८५

डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल

※ आत्मानुशीलनम् एक ज्ञान स्रोत ※

आत्मानुशीलनम् ग्रन्थ को समाज सेवा मे जन साधारण के आत्मा सम्बन्धी ज्ञान हेतु अर्पित कर मैं प्रसन्नता का अनुभव करता हूँ। यद्यपि ज्ञान प्राप्त करने वालो के लिए समाज मे ग्रन्थो की कमी नही है। समयसार प्रवचनसार पंचास्तिकाय रत्न करंड श्रावकाचार श्लोकवार्तिक राजवार्तिक आप्त मीमांसा अष्ट सहस्री जैसे महान् ग्रन्थ मौजूद है। सम्पूर्ण ज्ञान के स्रोत षट्खंडागम, महाबन्ध, कषाय पाहुड जैसे महान् ग्रन्थ आज भी उपलब्ध हैं। इन ग्रन्थो मे जिनकी गहरी रुचि होती है वे ही इनका अमृत पान कर अपने जीवन को सफल कर पाते हैं। इन ग्रन्थो का स्वाध्याय कर प० टोडरमल जी कृत मोक्ष मार्ग प्रकाश एव प० बनारसीदास जी कृत समयसार नाटक को पढकर मेरे ऐसे भाव जागृत हुए कि सरल से सरल हिन्दी भाषा मे आत्मा सम्बन्धी रचना की आवश्यकता है, ताकि द्रव्यानुयोग के प्रथम विद्यार्थी भी तत्व को समझ सके तथा आत्मा को शुद्ध बना सके। अत भाव जागृति होती गई और रचना होती गई। वस्तुस्थिति तो यह है कि मैं स्वय भी इस बात को नही जानता कि मेरे निमित्त से यह रचना क्यो हुई और इसका कितना सदुपयोग होगा? जिस कार्य को होना होता है वह कार्य अवश्य होता है और उसके लिये निमित्त कारण भी मिल जाते है। मैं भी इस रचना का एक निमित्त ही हूँ।

रचना मे आगम के अनुसार भावो को व्यक्त किया गया है। इसमे नव अधिकार हैं। जो नाम के अनुसार तत्व ज्ञान से ओत प्रोत है।

प्रथम—आत्म परिचय अधिकार मे आत्मा एक द्रव्य है, उसके गुण और स्वभाव का परिचय कराया गया है, क्योकि प्रत्येक द्रव्य अपने गुण एव स्वभाव का ही स्वामी होता है, तथा स्वभाव व गुणानुसार जो उसके कार्य होते है, वे ही श्रेष्ठ होते है।

द्वितीय—ज्ञाता दृष्टा अधिकार है। आत्मा का स्वभाव ज्ञाता दृष्टा है। इसका ज्ञान सबसे अधिक आवश्यक है। जिसको द्रव्य का स्वभाव व

गुण ज्ञान हो जाता है वही उसको प्राप्त कर सकता है। हीरे का पारखी ही हीरे का उपयोग कर सकता है, लाभ उठा सकता है।

तृतीय—आस्रव अधिकार है। यह आत्मा मिथ्यात्व कषाय अविरति और योग के कारण कर्मो का आस्रव करता है अर्थात् कर्मो को बुलाता है। अत यह समझाया गया है कि आस्रव कौन है और क्यो है तथा उनको निज आत्मा से भिन्न समझ कर और आचरण कर कर्मो का आना रोका जा सकता है।

चतुर्थ—सवर अधिकार है—कर्मो का आना किस प्रकार रोका जा सकता है, आत्मा का कर्म भार न बढने दिया जावे ताकि पूर्ववद्ध कर्मो की निर्जरा होने पर मोक्ष मिल सके।

पंचम—निर्जरा अधिकार है। सवर हो जाने पर सम्यक् चारित्र का पालन कर कर्मो की किस प्रकार निर्जरा होती है यह समझाया गया है।

षष्ठ—पाप पुण्य अधिकार है, क्योकि पाप पुण्य के रहस्य को समझे विना मुक्ति प्राप्त नही की जा सकती। पाप से अशुभ कर्मो का वन्ध और पुण्य से शुभ कर्मो का वन्ध होता है। दोनो ही वन्धनकारी है, अत इन दोनो से ऊपर उठकर शुद्धोपयोग मे लगना आवश्यक है।

सप्तम—बन्ध अधिकार है, कर्मो का वन्ध आत्मा के अज्ञान के कारण से होता है, अज्ञान से मोह और मोह से वन्धन होता है। जव तक वन्ध के कारण को न समझेग तव तक उससे छुटकारा भी नही मिल सकता।

अष्टम—मोक्ष अधिकार है। कर्मो का सवर कर जो निर्जरा कर देता है वह कर्मो से मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त कर लेता है और इस तरह पूर्ण लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है।

नवम—विशिष्ट ज्ञानाधिकार है। इस अधिकार मे रहस्यपूर्ण प्रश्नो का उत्तर दिया गया है। क्योकि यदि तत्व ज्ञान मे थोडी भी शका रह जाती है तो सम्यग्दर्शन होने मे वाधा रहती है। अत सभी प्रश्नो को वहुत सरल तरीके से समझाया गया है।

दशम—दशम अधिकार मे ग्रन्थ के सार रूप मे कुछ ऐसे प्रश्नोत्तर है जिससे आत्मा और कर्मबन्धन तथा उससे मुक्त होने का प्रकार सभी मुमुक्ष बन्धुओ के समझ मे आ जावे।

इस पुस्तक को मानव मात्र के हित के लिये मै समर्पित करता हूँ। तथा भगवान महावीर का पुन स्मरण करता हूँ, जिनके बतलाये हुए मार्ग पर चल कर मैं स्व हित कर सकू तथा पर हित तो जिसकी भवितव्यता हितकारक होगी उसी का हो सकेगा।

धन्यवाद ज्ञापन—

मैं इस ग्रन्थ के परम सहयोगी डॉ प्रेमचन्द जी जैन को धन्यवाद देता हूँ कि वे प्रत्येक क्षेत्र मे मेरा सहयोग करते है, तथा सदा ही प्रेरणा देकर मेरा उत्साह बढाते है।

डॉक्टर कस्तूरचन्द जी कासलीवाल के प्रति आभार प्रकट करता हू, जो हमेशा ही मेरे प्रेरणा स्रोत रहे है।

श्री चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय का मै अत्यन्त आभारी हूँ, जो नित्य प्रति की चर्चाओ से मेरा मार्ग प्रदर्शन करते रहते है।

श्री लेखचन्द जी बाकलीवाल का मै अत्यन्त आभारी हूँ। जिनके आर्थिक सहयोग से इस रचना का प्रकाशन हो सका है। तथा जिनकी तत्व रुचि के कारण इस रचना का निर्माण हुआ है।

वैद्य प्रभुदयाल कासलीवाल

ए–२८, जनता कालोनी
जयपुर, ३०२००४
दिनाक–१ जनवरी, १९८६

दो शब्द

वैद्य प्रभुदयाल जी कासलीवाल जिन्होने आयुर्वेद चिकित्सा के कार्य मे एक अच्छा नाम किया है, करीब पाँच वर्ष से आध्यात्मिक क्षेत्र मे कार्य कर रहे है। उनका मुख्य उद्देश्य निज आत्मा का उद्धार करना है, लेकिन स्व उपकार मे पर उपकार निहित है। आपने आत्मविनिश्चयम् नाम की पुस्तक लिखी है जिसमे जन साधारण को आत्मबोध होने का बहुत ही सरल भाषा मे उपाय बतलाया है। आपने समयसार, प्रवचन-सार, पचास्तिकाय का हिन्दी भाषा मे पद्यानुवाद किया है।

वैद्य प्रभुदयालजी के यहाँ मेरा आना जाना बराबर रहता है। करीब एक वर्ष पूर्व मैने उनसे निवेदन किया था कि वे सरल भाषा मे जैन तत्वज्ञान कराने हेतु किसी रचना का निर्माण करे। उन्होने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर इस आत्मानुशीलनम् ग्रन्थ की रचना की है। मै इसके लिये उनको हार्दिक बधाई देता हू। मैं आशा करता हूँ कि वे ऐसी रचनाओ का निर्माण अवश्य करते रहेगे जिससे समाज के कम पढे लिखे भाई बहनो का भी ज्ञान वर्धन हो और तत्वज्ञान की प्राप्ति हो।

३०, हरीश मुखर्जी रोड
कलकत्ता-२५
३१-१२-८५

लेखचन्द बाकलीवाल

श्री लेखचन्दजी बाकलीवाल

राजस्थान राज्य की राजधानी जयपुर नगर के घी वालो के रास्ते मे श्री गप्पूलालजी बाकलीवाल एव उनकी धर्म पत्नि भवरदेवी जी के निमित्त से श्री लेखचन्दजी का जन्म सम्वत् १६८५ की सूर्य सप्तमी को हुआ। आपके पिता श्री गप्पूलालजी धर्म प्रेमी एव निष्कपट थे। वे थोडे धन मे ही सन्तोष कर जीवन-यापन करते थे। आपके माताजो श्री भवर देवीजी जयपुर के प्रसिद्ध जागीरदार श्री जयकुमारजी दीवान की पुत्री हे। राजकुमारजी दीवान मास्टर मोतीलाल पुस्तकालय के सेक्रेटरी आपके लघु भ्राता है। आप धार्मिक जीवन से ओत-प्रोत घर मे पूर्ण वैभव के होने पर भी सादा जीवन व्यतीत करती हे। आपकी बोलचाल मे माधुर्य हे तथा अतिथि सत्कार कर प्रनन्न होने वाली है। आपकी आय बहत्तर वर्ष की है।

श्री गप्पूलालजी व्यापार द्वारा अर्थ उपार्जन हेतु कराची सिन्ध मे रहते थे, अत आपका लालन-पालन व शिक्षा श्री जयकुमार जी दीवान के यहा हुई। आप बी.काम., एल. एल. बी. है। शिक्षा की समाप्ति पर आप राजस्थान सरकार के खनिज विभाग मे नियुक्त हुए, लेकिन राज्य सेवा मे रह कर आप सन्तुष्ट नही थे। अत तीन वर्ष के अल्प समय मे ही राज्य सेवा छोडकर फिल्म इण्डस्ट्री मे चले गये और शीघ्र ही निजी कारोबार प्रारम्भ कर दिया। वर्तमान मे आप कलकत्ते मे महावीर फिल्म्स, प्रकाश पिक्चर्स एव अजय मोवीज के मालिक है तथा जयपुर मे ललित फिल्म भी आपका ही सस्थान है।

आपका विवाह ललिता देवी लालचन्द जी कोठारी की पुत्री के साथ हुआ। आपके दो पुत्र एव दो पुत्रिया है। पुत्रो के नाम लेख

प्रकाश (बिल्लू), अजय (बब्बल) है। पुत्रियां शशि एव पुष्पा है। शशि का विवाह सुरेश कुमार सेठी कलकत्ता के साथ एव पुष्पा का विवाह राजकुमार जी छाबडा हजारीबाग के साथ सम्पन्न हुआ है। लेख प्रकाश का विवाह श्री हीरालालजी सेठी की पुत्री रागिनी के साथ एव अजय का विवाह श्री चन्द्रकुमार जी फिरोजाबाद वालो की पुत्री अन्जु के साथ हुआ है।

आपने सरस्वती ग्रन्थमाला के अध्यक्ष बनने की स्वीकृति प्रदान की है। आपने इस आत्मानुशीलनम् ग्रन्थ-छपाई मे पूर्ण सहयोग दिया है। आपने इस ग्रन्थ का प्रकाशन अपने स्वर्गीय पिता श्री गप्पूलालजी की स्मृति मे करवाया है। आप सामाजिक सेवाभावी है, इसी विचार से इन्होने लाइन्स क्लब मे प्रेसीडेन्ड एव सेक्रेटरी के पदो पर रहकर समाज की सेवा की है। व्यावसायिक क्षेत्र मे भी इनका प्रभाव व अच्छा नाम है। आप ईस्टर्न इन्डिया मोशन पिक्चर्स असोसियेशन मे डिस्ट्रीब्यूटर्स सेक्शन के चेयरमेन है। आपको लाइन्स इन्टर नेशनल ने आपकी सेवाओ को देखकर सेन्ट परसेन्ट प्रेसीडेन्ट अवार्ड दिया है। आप सेवा भाव तथा धार्मिक रुचि हेतु बधाई के पात्र है।

ग-२८
जनता कालोनी
जयपुर-३०२००४

सरस्वती देवी कासलीवाल
उपाध्यक्षा
सरस्वती ग्रन्थमाला

जैन योगी स्वस्ति श्री भट्टारक चारुकीर्ति जी का आशीर्वाद

श्री वैद्य प्रभुदयाल कासलीवाल द्वारा रचित आत्मानुशीलनम् नाम का ग्रन्थ अद्भुत शैली से लिखा हुआ एक आत्म शास्त्र है। इसमे दश अधिकार हैं। ससारी जीव का मोक्ष मार्ग मे लगकर ससार बन्धन किस प्रकार छूट सकता है, यह एक अद्भुत ज्ञान मार्ग से ही सभव है। वैद्य जी ने चिन्तन और मननपूर्वक इस ग्रन्थ की रचना की है, यह उनका अद्भुत स्तुत्य प्रयास है। मेरी इच्छा है कि इस ग्रन्थ का सभी जैन भाई स्वाध्याय करे। जो इसका स्वाध्याय करेगा वह अवश्य मोक्ष मार्ग पर चल सकेगा। मैं वैद्यजी के इस प्रयत्न की सराहना करता हुआ उन्हे आशीर्वाद देता हूँ।

इति शुभम्।

स्वस्ति श्री भट्टारक चारुकीर्ति जी
श्री दिगम्बर जैन मठ
मूडबिदरी–५७४२२७ (जिला–डी. के.)
कर्नाटक

आत्मानुशीलनम् उपयोगी एवं पठनीय

जैन दर्शन के अनुसार जीव अर्थात् आत्मा और अजीव अर्थात् भौतिक प्रकृति, दोनो अनादि तथा अनन्त है। इनका कोई कर्त्ता और नियन्ता नही। जगम तथा स्थावर प्राणियो मे असख्य आत्माएँ है जो अपने-अपने कर्म-बधनो के अनुसार विभिन्न योनियो मे जन्म लेती रहती है। ये अजर-अमर आत्माएँ शारीरिक जन्म-मरण के चक्र मे तब तक फसी रहती है, जब तक उनका मोक्ष नही होता। यह मोक्ष ही आत्मा का अन्तिम लक्ष्य और उद्देश्य है। इस उद्देश्य को वैदिक और श्रमण परम्पराएँ दोनो स्वीकार करती हैं।

जैन आगमो मे सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र को मोक्ष धर्म कहा गया है। इनकी साधना के बिना मोक्ष की प्राप्ति नही हो सकती। इनकी साधना के लिए जीव, अजीव, आस्रव, सवर, निर्जरा, बध और मोक्ष इन सात तत्वो का ज्ञान आवश्यक है। इसके अलावा पुण्य और पाप के भेदो तथा परिणामो का ज्ञान भी होना चाहिए।

इन नौ तत्वो का ज्ञान होने पर मनुष्य को आत्म-तत्व का बोध होता है, अर्थात वह जान लेता है कि मै अजर-अमर, शुद्ध-बुद्ध, निराकार-निर्विकार आत्मा हू। मैं कर्मो का केवल ज्ञाता-दृष्टा हू। तब वह अपनी आत्मा का शुद्ध रूप पहचानने के लिए आत्म-चिन्तन करता है। इस आत्म-चिन्तन से उसके राग-द्वेष आदि सारे विकल्प छूट जाते है और सारे कर्म-बन्धन नष्ट हो जाते है। पूर्ण आत्म-ज्ञान होते ही जीव को कैवल्य अर्थात् मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

आत्म-साधना का यह मार्ग बहुत दुस्तर है और अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचने के लिए मनुष्य को अनेक सीढिया पार करनी पडती है। जैन आगमो मे इनका विस्तार-पूर्वक वर्णन है। परन्तु आगम-साहित्य इतना विशाल है, उसकी भाषा इतनी गहन और गूढ है और उसमे इतने दार्शनिक विवेचन हैं कि साधारण मनुष्य के लिए न तो उनका अध्ययन सभव है और न उसमे गूढ तत्वो को समझने की शक्ति होती है।

इन बातो को ध्यान मे रखकर इस पुस्तक के रचयिता वैद्य प्रभुदयाल कासलीवाल ने गद्य-पद्य-मय सरल और सुबोध भाषा मे आत्म-साधना तथा आत्म-ज्ञान के उपायो की शास्त्रोक्त व्याख्या की है। इस व्याख्या के पीछे उनकी अपनी साधना तथा अपना चिन्तन-मनन है। इनके बिना गूढ तत्वो का सम्यक् दर्शन और ज्ञान नही हो सकता।

आत्मा के इन गुणो और स्वभावो को वैदिक परम्परा भी स्वीकार करती है। इस दृष्टि से आत्म-ज्ञान तथा ब्रह्म-ज्ञान शब्द पर्यायवाची हो जाते है। वृहदारण्यक उपनिषद् मे याज्ञावल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयी को उपदेश दिया है—

आत्मा वा अरे दृष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो।
मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेद सर्व विदितम्॥

हे मैत्रेयी आत्मा ही देखने, सुनने, मनन करने तथा निरतर चिन्तन करने योग्य है। जब आत्मा को देख लिया जाता है, सुन लिया जाता है तथा जान लिया जाता है, तब सब कुछ जान लिया जाता है।

तात्पर्य यह है कि जब जीव को यह केवल-ज्ञान हो जाता है कि मै आत्मा हू, तब उसे जानने को कुछ शेष नही रहता और वह जन्म-मरण के बधन से मुक्त हो जाता है।

आज बहुसख्यक जन-समुदाय राग-द्वेष का शिकार होकर क्रोध-मान-माया-लोभ व्यामोह मे फँसा हुआ है। जिज्ञासुओ तथा मुमुक्षुओ की सख्या बहुत कम है। ऐसी अवस्था मे लोगो को इस ओर प्रेरित करने की महती आवश्यकता है और यह काम इस प्रकार की उद्बोधक पुस्तको से ही सभव हो सकता है।

मै समझता हू कि वैद्य प्रभुदयाल की यह पुस्तक इस दृष्टि से पठनीय, मननीय तथा उपादेय है। केवल जैन मतावलम्बी ही नही, बल्कि अन्य भारतीय सम्प्रदायो के अनुयायी भी इससे लाभ उठा सकते है, क्योकि मोक्ष प्राप्ति के बारे मे कोई भी साम्प्रदायिक मतभेद नही, केवल परिभाषाएँ अलग-अलग है।

चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय



वैद्य श्री प्रभुदयाल कासलीवाल
ग्रन्थ के रचयिता



श्रीमती सरस्वती देवी कासलीवाल
उपाध्यक्षा
सरस्वती ग्रन्थमाला



श्री लेखचन्द बाकलीवाल
अध्यक्ष
सरस्वती ग्रन्थमाला



श्रीमती ललितादेवी बाकलीवाल



स्व. श्री गप्पूलालजी बाकलीवाल



श्री भट्टारक चारुकीर्तिजी महाराज
भट्टारक मुडबद्री पीठ



डॉ. प्रेमचन्द जैन
कोषाध्यक्ष, सरस्वती ग्रन्थमाला

विषय-सूची



॥ॐ॥

आत्म परिचय अधिकार ॥१॥

मंगलाचरण

वीर प्रभु को नमस्कार कर सीमन्धर को नमता हूँ।
आत्म दृष्टि से जग-ज्ञाता जो उनको शीश झुकाता हूँ ॥१॥

सर्व प्रथम मगलाचरण करना मागलीक है, क्योकि अपने आदर्श रूप जगत् पूज्य प्रभु को नमस्कार करने से मल का अर्थात् अशुभ कर्मो का नाश होकर पुण्य का बन्ध होता है। अरहन्त और सिद्धो को भक्ति भाव से उनके गुणो को दृष्टि मे रखते हुए नमस्कार करना दूरतर कारी मोक्ष प्राप्ति का कारण माना है।

भरत क्षेत्र मे वर्तमान मे पचम काल चल रहा है । इस समय न तो केवली है और न श्रुत केवली है। चतुर्थ काल के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर का ही इस समय शासन काल चल रहा है, उनकी दिव्य ध्वनि के आधार पर गणधरो ने जो सूत्र ज्ञान की वर्षा की उसी के आधार पर धवल जय धवल एव महा धवल आदि ग्रन्थो की धरसेनाचार्य की प्रेरणा से भूतबली और पुष्पदन्त ने रचना की । करणानुयोग का सम्पूर्ण ज्ञान इन ग्रन्थो के आधार पर है।

आज के दो हजार वर्ष पूर्व दक्षिण मे कुन्द कुन्द एक समर्थ आचार्य हुए, उनको अनेक सिद्धिया भी प्राप्त थी। इनके आधार पर शुद्ध ज्ञान प्राप्त करने हेतु आचार्य प्रभु के विदेह क्षेत्र मे वर्तमान अरिहन्त सीमन्धर भगवान के समवशरण मे जाकर उनकी, दिव्य ध्वनि का लाभ उठाने की जिज्ञासा जागृत हुई। अत वे विदेह क्षेत्र गये और सात दिन तक रहे। सीमन्धर भगवान की दिव्य ध्वनि के आधार पर भरत क्षेत्र मे आकर समय सार, प्रवचन सार आदि अनेक ग्रन्थो की रचना की और मोक्ष प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त किया।

अत मगलाचरण मे दोनो तीर्थंकरो को नमस्कार कर इस ग्रन्थ के निर्विघ्न समाप्ति की कामना करता हूँ।

आत्मा का स्वरूप ज्ञाता दृष्टा है तथा सत् स्वरूप है—

सत्स्वरूप जो आत्म द्रव्य है, सब जीवों मे रहता है ।
निज स्वरूप कभी ना छोड़े, वह तो ज्ञाता दृष्टा है ॥२॥
तीन रूप व्यवहार ज्ञान से, एक रूप निश्चय से है ।
अन्तर्दृष्टि जगे जब निजकी, वह तो एक रूप ही है ॥३॥

इस ससार मे छह द्रव्य है । जीव अजीव धर्म अधर्म आकाश और काल । इनमे जीव द्रव्य चेतन स्वरूप है, शेष द्रव्य चेतन नही है । एकेन्द्रिय से लेकर पन्चेन्द्रिय तक, निगोदिया जीवो से लेकर देव और मनुष्य सभी चेतन है । द्रव्य सत् स्वरूप होता है । सत् का लक्षण उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त कहा है । जीव द्रव्य पर्यायो मे परिणमन करने के कारण उत्पाद व व्यय से युक्त है क्योकि पर्याय क्षणिक है । गति परिवर्तन भी पर्याय परिवर्तन है । एक जीव देव पर्याय छोडकर मनुष्य पर्याय धारण करता है, अत देव पर्याय का नाश व मनुष्य पर्याय की उत्पत्ति होती है । लेकिन दोनो पर्यायो मे जीव तो वही रहता है, अत जीव पर्याय की अपेक्षा उत्पाद व नाश युक्त है तथा जीवत्व की अपेक्षा ध्रुव है । और उत्पाद, व्यय व ध्रौव्य स्वरूप के कारण जीव सत् है ।

अनन्त पर्याये धारण करने पर भी जीव अपने चेतन स्वरूप को नही छोडता है । जीव के गुण, ज्ञान व दर्शन है, अर्थात् जीव जानने व देखने वाला है । अत जीव को ज्ञाता दृष्टा कहते है ।

जीव के तीन रूप सिद्ध हुए । एक नष्ट होने वाला, एक उत्पन्न होने वाला तथा एक ध्रुव रहने वाला । ये तीनो व्यवहार नय से है पर्याय की अपेक्षा है, निश्चय नय से जीव न देव है, न मनुष्य है न नारकी और न तिर्यन्च है । जीव तो जीव ही है और प्रत्येक अवस्था मे अपने ज्ञान, दर्शन, गुण युक्त है ।

जीव मे दर्शन, ज्ञान और चारित्र की तीनअवस्थाऐ होती है । आत्मा जब निज सत् स्वरूप व दर्शन ज्ञान स्वरूप की श्रद्धा करता है वह अवस्था सम्यग्दर्शन कहलाती है । श्रद्धा के साथ निज का ज्ञान होता है, वह सम्यग्ज्ञान अवस्था है । ज्ञान होने के बाद जब जीवनिज मे रमण करता है तथा राग द्वेष मोह आदिक भावो को निज से भिन्न मानता है वह सम्यक् चरित्र अवस्था है । ये तीनो अवस्थाऐ पृथक २ दिखाई देती है, लेकिन आत्म ज्ञान होने के पश्चात जब आत्म स्थिति हो जाती है, अर्थात्

आत्मा आत्मा मे ही रमण करता है तब दर्शन, ज्ञान, चारित्र भेद समाप्त होकर एक आत्मा ही रह जाता है । अत दर्शन ज्ञान व चारित्र भी व्यवहार नय से ही है, निश्चय से तो आत्मा एक ही है । आत्मानुभूति होकर आत्मा का ज्ञान होना ही अन्तर्दृष्टि प्राप्त करना है ।

यह जीव पर पदार्थो को अज्ञानवश निज मान रहा है तथा स्व को भूल गया है ।

अनादि काल से जीवराज यह पर मे स्थित होने से ।
निज स्वरूप को भूल गया है जगत् भ्रमण करता डोले ॥४॥
काम भोग युत बंध कथा से जग मे सब परिचित अनुभूत ।
उन्ही कथाओं से विस्मृत हो, भिन्न आत्म स्थिति से रिक्त ॥५॥

जीव और अजीव (कर्मऔरपुद्गल) के साथ २ रहने का क्रम अनादि काल से चला हुआ है । जिस प्रकार स्वर्ण मे खान से निकलने के समय ही अशुद्धि विद्यमान है, उसी प्रकार जीव और पुद्गल का नाता भी अनादि काल से है । जन्म काल से ही धाय के घर रहने वाला बच्चा जिस प्रकार अपने माता पिता से अपरिचित रहता है, उसी प्रकार यह जीव भी अनादि कालिक कर्म पुद्गल की सगति से निज स्वरूप और गुणो को भूला हुआ है । निज को भूल कर पर पुद्गल को निज मान रहा है तथा पर मे ही आसक्त हो रहा है, पर मे आसक्ति के कारण इसका ससार भ्रमण बना हुआ है ।

पर मे आसक्त होने के कारण काम और भोग सम्बन्धी कथाओ से तो यह जीव परिचित है और उनका अनुभव भी किया है । यह जीव अज्ञानी बनकर काम, भोग आदि की कथाओ मे ही लिप्त हो रहा है तथा निज स्वरूप व गुणो को भूल गया है, अत कर्म पुद्गल से भिन्न जो निज शुद्ध आत्म स्थिति है उस ज्ञान से रिक्त हो रहा है शुद्ध आत्मा जो ज्ञान और दर्शन गुण के कारण ज्ञाता दृष्टा है वह किसी भी राग, द्वेष, मोह, कषाय और नोकषाय का कर्त्ता नही है । वह केवल अपने ज्ञान रूप परिणमन का ही कर्त्ता है । वह स्वय भी ज्ञान रूप ही है । अत ज्ञान ही कर्त्ता एव ज्ञान ही कर्म है । वह निज गुणो के अतिरिक्त किसी भी पर भाव का कर्त्ता नही है । यह बात पर मे आसक्त अज्ञानी जीव नही समझ रहा है ।

भव्य जनो को आत्मा का वैभव एव शक्ति को जानने का उद्‌बोधन

भव्य जनो एकत्व विभक्त निज आतम वैभव को जानो।
ज्ञान और दर्शन गुण पूरित निजात्म शक्ति को पहचानो ॥६॥

निर्मल भेद ज्ञान से स्पष्ट भिन्न दिखाई देने वाला आत्मा जो कि सदा प्रकट रूप से अन्तरग मे प्रकाश मान है, अनन्त चतुष्टय के वैभव से सुसज्जित है। अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य और अनन्त सुख स्वरूप यह आत्मा सदा विद्यमान है, लेकिन जिस प्रकार अग्नि के सयोग से जल का शीतल स्वभाव ढक जाता है और अग्नि सयोग पृथक् हो जाने पर पुन प्रकट हो जाता है, उसी प्रकार मोहनीय कर्म के कारण आत्मा का अनन्त चतुष्टय स्वरूप ढका हुआ है, तथा मोहनीय कर्म के पृथक् हो जाने पर पुन प्रकट हो जाता है।

इस रहस्य को समझने की आवश्यकता है, कि आत्मा का स्वरूप अनन्त चतुष्टय स्वरूप है। अनन्त चतुष्टय ही आत्मा का वैभव है। निज आत्म वैभव को और अपनी अनन्त शक्ति को पहचानना आवश्यक है।

निश्चय नय और व्यवहार नय दोनो का ज्ञान आवश्यक है —

निश्चय अरु व्यवहार दो नय है, निश्चय से सद् दृष्टि मिले।
निश्चय शुद्ध ज्ञान आश्रित है, निश्चय से पथ मोक्ष मिले ॥७॥
नय व्यवहार तो मन्द बुद्धि को समझाने हित होता है।
बिन व्यवहार सत्य ना समझे उभय ज्ञान आवश्यक है ॥८॥

निश्चय और व्यवहार दो नय के भेद है। इन दोनो नयो का स्वरूप समझना आवश्यक है। व्यवहार नय से देव, नारकी, मनुष्य और तिर्यन्च पर्यायो मे भ्रमण करता हुआ यह आत्मा अज्ञानी हो रहा है, सुख दुख का भोक्ता है तथा क्रोधादिक कषायो एव नो कषायो का कर्त्ता है।

निश्चय नय से यह आत्मा सिर्फ ज्ञान दर्शन रूप परिणमन करता है तथा क्रोधादिक सभी विभावो से पृथक् है। राग, द्वेष, मोह और इनके जनक कारणो से पृथक् है। जिस प्रकार ताम्र, रजत, पीतल आदि विकृतियो से सयुक्त होने पर भी स्वर्ण विकृतियो से पृथक् है उसी तरह कर्म विकृतियो के साथ रहने पर भी आत्मा पृथक् है। जिस प्रकार ताम्र, रजत आदि विकृतियो का भेद ज्ञानी न्यारिया शुद्ध-स्वर्ण को पृथक् कर लेता है उसी प्रकार शुद्ध आत्मा और विकृतियो का भेद ज्ञानी आत्मा को विकृतियो से पृथक कर लेता है।

अत निश्चय नय से शुद्ध आत्म द्रव्य को तथा व्यवहार नय से कर्मो से बद्ध आत्मा को समझना आनश्यक है। जो विकृति और विकृत द्रव्य दोनो को जानेगा वह विकृति को दूर कर सकेगा तथा विकृतियो को दूर कर निर्वाण प्राप्त कर सकेगा।

मन्द बुद्धि अज्ञानी प्राणियो को सत्य स्वरूप समझाने के लिये व्यवहार नय का आश्रय लेना आवश्यक है। जिस प्रकार शुद्ध स्वर्ण का ज्ञान कराने के लिये शुद्ध स्वर्ण और अशुद्ध स्वर्ण दोनो का ज्ञान आवश्यक है उसी प्रकार आत्मा का शुद्ध स्वरूप जानने के लिये कर्म से बद्ध और बद्ध होते हुए भी अबद्ध किस प्रकार है यह समझना आवश्यक है।

यथा व्यवहारोऽभूतार्थो भूतार्थो दर्शितस्तु शुद्धनय ।
भूतार्थमाश्रित खलु सम्यग्दृष्टि र्भवति जीव. ॥

समय सार गाथा --११

सात तत्वो का निश्चय नय से ज्ञान होना आवश्यक है—

सात तत्व जिनने बतलाये, मोक्ष प्राप्ति हित उन्हे कहे।
तत्व ज्ञान भी निश्चय नय से, जो जाने समकित है रे ॥९॥

संसार भ्रमण करता यह प्राणी, कर्म बन्ध मे फंसा हुआ।
तत्व ज्ञान नही होने से, बन्ध भेद ना समझ रहा ॥१०॥

जिन देव भगवान ने सात तत्व बतलाये है। जीव, अजीव, आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष। इन सातो तत्वो का अर्थ समझ कर जो दृढ श्रद्धान करता है उसको सम्यग्दृष्टि कहा है। सम्यग्दृष्टि जीव अर्ध पुद्गल परावर्तन काल से अधिक ससार मे नही रहता। वह जीव अर्ध पुद्गल परावर्तन काल से पूर्व किसी भी समय अथवा इस काल की समाप्ति पर अवश्य मुक्ति प्राप्त कर लेता है। अत इन सात तत्वो के अर्थ ठीक तरह समझ लेना चाहिये, ताकि किसी प्रकार की शका न रहे और श्रद्धान हो जावे। इन तत्वो का इनके पृथक् पृथक् अधिकार मे विस्तार से वर्णन किया जावेगा।

शुद्ध आत्मा इन सभी तत्वो से पृथक् है। इसको उदाहरण द्वारा समझिये—

शुद्ध स्वर्ण

ताम्र लौहादिक विकृतियो का आना यह स्वर्ण का आस्रव तत्व है।

इन विकृतियो का आने से रुकना सवर तत्व है विकृतियो का पृथक् होना निर्जरा तत्व है

विकृतियो का शुद्ध स्वर्ण के साथ बध जाना बन्ध तत्व है।

विकृतियो के पृथक् हो जाने पर शुद्ध स्वर्ण का अपने स्वरूप मे आना स्वर्ण का मोक्ष है।

शुद्ध आत्मा

राग द्वेष मोहादिक विकृतियो मे निज बुद्धि होने से उन रूप होना आत्मा के लिये आस्रव तत्व है।

राग द्वेषादिक विकृतियो की उत्पत्ति का न होना संवर है। पूर्व मे पैदा हुए राग द्वेषादिक विकृतियो का जो जमाव हुआ था उसका पृथक् हो जाना निर्जरा है।

राग द्वेषादिक विकृतियो का आत्म प्रदेशो के साथ जमाव होना बन्ध तत्व है।

राग द्वेषादिक विकृतियो के कारण जो कर्म और नो कर्म रूप जमाव था उसकी समाप्ति के फल स्वरूप जो जीव की स्थिति बनती है वह मोक्ष है।

स्वर्ण का मोक्ष—

१. स्वर्ण-शुद्ध सौटिन्च स्वर्ण का नाम है।

२. ताम्र, रजत लौहादिक के कण स्वर्ण के कणो के साथ रहते है फिर भी स्वर्ण कणो व स्वर्ण के स्वर्णत्व को न तो छूते है और न उनको मलिन करते है। जब लौहादिक विकृतियाँ स्वर्ण कण व स्वर्णत्व को छूते भी नही है तब स्वर्ण का विकृतियो के साथ बन्धन होने का प्रश्न ही नही है। न्यारिया अर्थात् स्वर्ण और लौहादिक विकृतियो का भेद ज्ञानी स्वर्ण और लौहादिक विकृतियो को पृथक् कर देता है। शुद्ध स्वर्ण पृथक् हो गया। अर्थात् विकृतियो से छूट गया। स्वर्ण की मोक्ष हो गयी जिसके फल स्वरूप स्वर्ण के पीलता चमक भारीपन वगैरह गुण पुन प्रकट हो गये और पूर्ण रूप मे दिखाई देने लगे।

लेकिन जब स्वर्ण और विकृतियो का बन्धन हुआ नही था तो मोक्ष कहना व्यवहार है, इसी प्रकार स्वर्ण धातु के लिये आस्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष सब व्यवहार से ही कहा गया। निश्चय से तो किसी भी तत्व ने स्वर्ण को नही छूआ।

इसी प्रकार आत्मा के साथ पौद्गलिक कर्मो की स्थिति है। पौद्गलिक कर्म आत्मा के साथ अनादि काल से रह रहे है। लेकिन न तो वे आत्मा का स्पर्श करते हैं और न वन्धन करते हैं। जव वन्धन ही नही होता तो सवर, निर्जरा और मोक्ष सभी तत्व व्यवहार मात्र है। अज्ञानी आत्मा को भेद ज्ञान न होने के कारण वह अपने आपको वन्धन युक्त मानता है। अत अज्ञान ही ससार भ्रमण का मुख्य कारण है।

यह आत्मा वस्तुत वन्धन युक्त अज्ञान के कारण है।
निश्चय से तो यह आत्मा वंधा नही कर्मों से है।
नित्य निरंजन निराकार हैं भिन्न अभिन्न पर्यायी हैं ॥११॥
इन भावो के ज्ञान सहित जव निज अनुभूति करता है।
जिन शासन का मर्म समझकर शुद्धातम वन जाता है ॥१२॥

यह आत्मा कर्मो के साथ न तो वधा हुआ है और न कर्मो से स्पर्शित है। आत्मा नित्य है, अनन्त भवो को भोगने पर भी उसके सत् स्वरूप मे कोई अन्तर नही आया, उसका अनन्त चतुष्टय वैभव अक्षुण्ण है। आत्मा अपने गुणो मे पूर्ण है उसको पर के एक कण की भी आवश्यकता नही है और न पर का कोई कण उसका हो सकता है। आत्मा का कोई आकार नही है पर्यायो के अनुसार उसका आकार वदलता रहता है। चीटी के शरीर मे चीटी का आकार और हाथी के शरीर मे हाथी के आकार वाला होता है। अनन्त पर्यायो मे रह कर भी अपने नित्य अविनाशी द्रव्य स्वरूप को कभी नही छोडता। वह पर्यायो से कथान्चित भिन्न और कथान्चित अभिन्न हैं।

हे आत्मन् तू अपने ज्ञाता दृष्टा स्वभाव को जान कर उसी मे लीन होजा, ज्ञाता दृष्टा रूप मे ही निज अनुभूति कर कर्त्ता कर्म भाव जो मिथ्यात्व है उसका तत्काल त्याग कर, कर्त्ता कर्म भाव से अपने आपको मुक्त करने पर शुद्ध आत्मा वन जायेगा। कर्त्ता कर्म भाव राग का निमित्त है और राग के कारण ही आत्मा ससार से चिपका हुआ है यह ससार से चिपकना ही वन्धन है और कोई वन्धन नही है। अत तू अपने शुद्ध स्वरूप की अनुभूति कर उसी मे लीन होजा यही जिन शासन का मर्म है।

य पश्यति आत्मानम् अबद्धस्पृष्टमनन्यकं नियतम्।
अविशेषमसंयुक्तं तं शुद्धनयं विजानीहि ॥

समयसार ॥१४॥ गाथा

पर्यय वियुतं द्रव्यं द्रव्य वियुक्ताश्च पर्याया न सन्ति ।
द्वयोरनन्य भूतं भावं श्रमणाः प्ररूपयन्ति ॥

पंचास्तिकाय –१२

आत्मा जब पर भावो से भिन्न अपने सत् स्वरूप की श्रद्धा कर उसमे लीन होता है तब वह मोक्ष अवस्था को प्राप्त करता है ।

शुद्ध आत्म की पवित्र श्रद्धा पूर्ण रूपता यदि पावे ।
शुद्धात्मा का ध्यान बने और विकल्प सारे नश जावे ॥१३॥
मैं शुद्धातम भिन्न अन्य से यह भी एक विकल्प कहा ।
शुद्धातम के विकल्प नहीं हैं शुद्धातम निज में रहता ॥१४॥
जो प्राणी शुद्धातम ध्यावे शुद्धातम में वास करे ।
उसके कर्म सभी कट जावे वह ना जग में वास करे ॥१५॥

आत्मा एक अरूपी, सत् स्वरूप, अविनाशी, ज्ञान और दर्शन मय द्रव्य है । आत्मा का स्वरूप ज्ञाता, दृष्टा है । आत्मा पर द्रव्य और पर भावो से पृथक् है । आत्मा के शुद्ध स्वभाव मे नर नारकादि पर्याय बाल वृद्धादि अवस्थाये नही हैं । आत्मा के शुद्ध स्वभाव मे अनन्त चतुष्टय विद्यमान है । जो ज्ञाता दृष्टा होता है वह कर्त्ता नही होता । वह न किसी का कर्त्ता है और न किसी का कर्म है । आत्मा ज्ञान रूप परिणमन करता है अत वह ज्ञान भाव का कर्त्ता है और ज्ञान ही उसका कर्म है । आत्मा के सपूर्ण प्रदेश ज्ञानमय है अत. आत्मा ज्ञान है और ज्ञान ही आत्मा है ।

इस प्रकार आत्मा के स्वरूप का ज्ञान उसके गुणों का ज्ञान एवं उसके ज्ञाता दृष्टा स्वभाव को जान कर जो उस पर पूर्ण श्रद्धा करता है, उसी का चिन्तन उसी मे रमण करता है उसके राग द्वेषमय सम्पूर्ण विकल्प छूट जाते है । विकल्प तो विकल्प ही है, विकल्प राग को उत्पन्न करता है, अत मैं एक शुद्ध आत्म द्रव्य हूँ यह भी विकल्प है । शुद्ध आत्मा जब निज मे रमण करता है तब किसी भी तरह का विकल्प नही रहता ।

जो जीव निज शुद्धात्मा मे वास करता है उसके सभी कर्म कट जाते है और ससार से छूट कर सिद्ध बन कर लोकान्त मे वास करता है ।

भूतं भांतमभूतमेव रभसान्निर्भिद्य बंधं सुधी ।
र्यधंतः किल कोप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात् ॥

आत्माऽत्मानुभवैक गम्य महिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं ।
नित्यं कर्म कलंक पंक विकलो देवः स्वयं शास्वतः ।।

समय सार कलश श्लोक १२

आत्मनुभूतिरिति शूद्ध नयात्मिका या,
ज्ञानानुभूति रियमेव किलेति बुद्ध्वा ।
आत्मान्मात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकंप,
मेकोस्ति नित्यमववोध धनः समंतात् ।।

श्लोक १३

आत्म स्थित ज्ञानी भी विकल्प के कारण कर्म वन्ध करते है–

जीव यह जब तनिक मात्र भी विकल्प कोई करता है ।
वह विकल्प हा कर्म वर्गणा को आमन्त्रित करता है ।।१६।।
कर्म वर्गणा तब निमित्त बन कर्मरूप परिणमती है ।
निर्विकल्पमय आत्म स्थिति संकट दूर हटाती है ।।१७।।

आत्मा ज्ञायक है, जव वह अपने आप मे रमण करता है तव उसको किसी भी तरह का विकल्प नही रहता, उसको पर का व निज का किन्चित मात्र भी विकल्प उसकी निज रमणता मे वाधा उपस्थित करता है । निज रमणता मे वाधा के भावो से कर्म वर्गणाओ के द्वारा कर्म वन्ध का कारण बन जाता है ।

विकल्प स्वय पुद्गल है और वही कर्म वर्गणा वुलाता है । जिस प्रकार स्फटिक मणि के सामने सूक्ष्म से सूक्ष्म भी कोई वस्तु आ जाती है तो वह वस्तु स्फटिक मणि के दिव्य रूप मे दिखाई देकर उसके उतने ही अश को आवृत करती है, उसी प्रकार सूक्ष्म से सूक्ष्म विकल्प भी ज्ञान के आवरण का कारण बन जाता है, वह आवरण ही कर्म वन्धन है।

जव पाचो पाण्डव तपस्या कर रहे थे तव नकुल और सहदेव के मन में, युधिष्ठर गर्म लोहे की बेडियो का दुःख कैसे सहन कर सकेगा यह विकल्प आया, और इस एक विकल्प ने ही उनके मुक्त होने की 'योग्यता को छीन लिया जो मुक्ति न प्राप्त कर सर्वार्थ सिद्धि मे गये । अत. निर्विकल्प आत्म स्थिति ही ससार दुख के सकट को दूर कर सकती है ।

शुद्ध नय आश्रित प्राणी सम्यक् दृष्टि होते हैं।

अत शुद्ध नय आश्रित प्राणी सम्यक् दृष्टि होता है।
पर्यायो से द्रव्य दृष्टि रख निज मिथ्यात्व हटाता है ॥१८॥
मक्खन पर जिसकी दृष्टि हो दुग्ध विलोकर प्राप्त करे।
जिसकी दृष्टि दुग्ध दही पर मक्खन उसको कहा मिले ॥१९॥

शुद्ध नय से विचार कर तत्त्व को समझने वाला जीव सम्यक् दृष्टि होता है। क्योकि वह पर्याय दृष्टि न रखकर द्रव्य दृष्टि रखता है, वह देव मनुष्य तिर्यंन्च और नारकी रूप जीवो मे शास्वत आत्म द्रव्य को देखता है। वह समझता है कि पर्याये नाशमान है तथा द्रव्य ध्रुव रूप है। निगोदिया जीव मे भी वह भगवान आत्मा के दर्शन करता है। ऐसा जीव सम्यक् दृष्टि होता है क्योकि वह समझता है कि भगवान आत्मा का लक्ष्य ही सत्य है। भगवान आत्मा जब स्व और पर का भेद समझ कर अपने आप को अनन्त चतुष्टय से युक्त वैभव वाला समझता है तब उसकी दीन अवस्था समाप्त हो जाती है।

जो व्यक्ति दुग्ध और दही पर अपनी दृष्टि रखता है तथा उनमे रहने वाले मक्खन पर दृष्टि नही रखता है उसको मक्खन का मिलना सम्भव नही है, लेकिन जो दुग्ध और दही मे रहने वाले मक्खन पर दृष्टि रखता है वह उसको विलोकर प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार जो पर्याय पर ही अपनी दृष्टि रखता है उसको शुद्ध आत्मा की प्राप्ति नही हो सकती लेकिन जो सभी पर्यायो मे शुद्ध आत्मा के दर्शन करता है उसको शुद्ध आत्मा की प्राप्ति अवश्य होती है।

पर पदार्थों मे आसक्ति रखना ससार भ्रमण का कारण है—

पर आसक्ति दुख की जड़ हैं मोह दुख का बीज कहा।
इक कण मे भी मोह भाव संसार भ्रमण इच्छा ही कहा ॥२०॥
मोह करे संसार वस्तु से मुक्त भाव फिर कहां रहा।
कर्तृत्व भाव और मोह भाव दोनो मिथ्या का मूल कहा ॥२१॥
अतः मोह और रागादिक से निर्जकत्व भाव छोड़ो।
कर्मो का संवर जिससे हो—मोक्ष महल पथ प्राप्त करो ॥२२॥

जिस व्यक्ति की शुद्ध आत्म दृष्टि नही होती वह पर मे आसक्ति रखता है, पर मे ममत्व बुद्धि रख कर उससे मोह करता है। मोह दुख का मूल कारण है, क्योकि जिस किसी भी वस्तु से यह जीव मोह करता है, उसमे इष्ट कल्पना करता है और उसकी हानि वृद्धि मे दुख-सुख का

अनुभव करता है जिस वस्तु से मोह करता है उसको इष्ट एव उससे विपरीत वस्तु से द्वेष करता है। राग द्वेष मोह हो कर्म बन्ध का मुख्य कारण है अत. यह जीव कर्म बन्ध युक्त हो कर ससार भ्रमण करता रहता है।

जो सासारिक वस्तुओ से मोह करता है वह उससे बध जाता है। एक सूई से मोह करने वाला सूई से और पर्वत से मोह करने वाला पर्वत से वधा हुआ है। यह वन्धन ही कर्म बन्धन है, जो बधा हुआ है वह मुक्त नही है, जो मुक्त है वह वधा हुआ नहो है। आत्मा ज्ञाता दृष्टा है कर्त्ता नही है यह त्रिकाली सत्य है, फिर भी अज्ञानो जीव पर का कर्त्ता बन जाता है यह किताव मैने लिखी है, यह मकान मैने वनाया है। इस तरह की स्वभाव विपरीत चेष्टाये करता है। अत पर वस्तु एव पर भाव मे निज कर्त्तृत्व मानना मिथ्यात्व है इसी प्रकार पर से मोह करना भो मिथ्यात्व है। अत राग द्वेप ओर मोह को भो पर भाव समझकर निज कर्त्तृत्व वुद्धि का त्याग करो। कर्त्तृत्व वुद्धि छोडने से राग द्वेप पैदा नही होते, राग द्वेप का पैदा न होना ही सवर तत्त्व है। सवर से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

आत्मा चेतन द्रव्य है, अत अचेतन कर्म व अन्य पदार्थो से भिन्न है—

कर्म आठ, तन आदिक सारे शुद्ध आत्म से भिन्न सभी।
जो प्राणी यह भेद जान ले, उनके बन्ध हटे सव ही ॥२३॥

त्रिया पुत्र और महल वगीचा, जो निज का माना करता।
भूत भविष्य कल्पना कर मिथ्या मद मे डूबा करता ॥२४॥

यह ग्राम यह देश है मेरा जो इस विधि चिन्तन करता।
वह सत्य बिल्कुल नही जाने जगत् भ्रमण करता रहता ॥२५॥

तन धन अरु धान्यादिक सब ही आत्मा के गुण से हैं हीन।
इसीलिये तेरे ना यह तो यह सत्य है तर्क विहीन ॥२६॥

स्वर्ण स्वर्ण कण मे ही रहता ताम्रदिक से नही कभी।
चेतन गुण भी चेतन मे है, नही अजीवादिक मे भी ॥२७॥

स्वर्ण परिणति गुणानुसारी, आत्म परिणती भी वैसी।
द्रव्य नही त्यागे निज गुण को सत्य त्रिकाली है ऐसी ॥२८॥

आठ कर्म और शरीरादिक नो कर्म शुद्ध आत्मा से भिन्न हैं। कर्म बन्ध राग द्वेष और मोहदिक आस्रवो के निमित्त से होता है। राग द्वेष और मोह स्वय पुद्गल है जो कि आत्मा की अज्ञान अवस्था मे पैदा होते हैं अत रागादिक आत्मा से भिन्न है। किसी भी द्रव्य के गुण ही उस द्रव्य के स्व होते हैं, स्व गुण उस द्रव्य से कभी भी भिन्न नही हो सकते जिस तरह आत्मा के ज्ञान और दर्शन गुण। रागादिक पैदा होते हैं और नष्ट हो जाते है क्योकि आत्मा की वस्तु नही है अतः रागादिक आत्मा से भिन्न हैं, जब रागादिक आत्मा से भिन्न है तब रागादिक के निमित्त से पैदा होने वाले कर्म और नो कर्म आत्मा से स्वत ही भिन्न हो गये। अत कर्मों और नो कर्मों की आत्मा से भिन्न स्थिति को जो समझता है उसके कर्म बन्ध का अभाव हो सकता है।

स्त्री पुत्र महल बगीचा ग्राम देश शरीर धन धान्य मे जो ममत्व भाव रखता है वह मिथ्यात्वी है। आत्मा के गुणो से विपरीत और स्व-भाव से विपरीत पर वस्तु और पर भाव आत्मा के निज नही हो सकते, यह एक ऐसी सत्य बात है जिसका किसी भी तर्क से खण्डन नही हो सकता।

स्वर्णत्व स्वर्ण कण मे ही रहता है और रह सकता है। ताम्र या चादी के कण मे स्वर्णत्व रहना कदापि सभव नही है। इसी प्रकार चेतन गुण आत्मा मे ही रहता है। ग्राम नगर धन धान्य मे नही रह सकता। स्त्री पुत्रादिक यद्यपि जीव हैं पर प्रत्येक जीव की स्वतन्त्र सत्ता होने से एक जीव दूसरे जीव का स्वामी नही हो सकता। स्वर्ण अपने गुणानुसार परिणमन करता है और ताम्रादिक अपने गुणानुसार परिणमन करते है। इसी प्रकार शुद्ध आत्मा भी अपने ज्ञान दर्शन गुणानुसार ही परिणमन करता है, शुद्धात्मा का परिणमन राग द्वेष रूप नही हो सकता यह त्रिकाली सत्य है, भूत भविष्य और वर्तमान मे इस सत्य का खण्डन नही हो सकता।

राग द्वेष और कषाये औपाधिक अर्थात् पर कृत भाव है—

राग द्वेष और सभी कषायें औपाधिक हैं भाव कहे।
मोह कर्म उदय से उपजें शुद्ध आत्मकृति नहीं रहे ॥२६॥

सेवालें जल मे जो आवे, जल ना उनका कर्त्ता है।
रागद्वेष और विकृतियों का शुद्ध आत्म कर्त्ता ना है ॥३०॥

भेद ज्ञान इन विकृतियो का जिस प्राणी के पैदा हो।
शुद्ध आत्म पर दृष्टि धरे जो नही विकृति कर्त्ता हो ॥३१॥

शुद्ध आत्म की दृष्टि बनाये शुद्ध आत्म पा जाता है।
शुद्ध स्वर्ण की दृष्टि रहे तब शुद्ध स्वर्ण मिल पाता है ॥३२॥

राग, द्वेष, क्रोध मान, माया, लोभ तथा नोकषाय औयाधिक भाव कहलाते है क्योकि वह भाव चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से पैदा होते हैं अत यह भाव पर निमित्त से है। शुद्ध आत्मा इन भावो का जनक नही है। आम्र वृक्ष के आम्र फल पैदा होते है, पर बबूल के नही। इसी प्रकार बबूल वृक्ष के काटे पैदा होते है, आम्र वृक्ष के काटे पैदा नही होते। शुद्ध आत्मा ज्ञाता दृष्टा स्वभाव वाला होने से ज्ञान दर्शन रूप ही परिणमन करता है राग, द्वेष रूप नही। जिस प्रकार जल मे जो सेवाल पैदा होती है वह जल के कारण नही पैदा होती बल्कि जो जल मे अन्य विकृतिया आ जाती है उनके करण पैदा होती है। इसी प्रकार आत्मा के साथ जो अनादिकालीन मोह और मोह के निमित्त से अज्ञान है उसी के कारण राग, द्वेपादिक भाव पैदा होते है।

इस तरह जो जल मे सेवाल के पैदा होने के करण को जानता है वह सेवाल को जल से भिन्न जानता है, पहचानता है, उसी प्रकार जो राग, द्वेष के पैदा होने के कारण को जानता है, आत्मा के स्वभाव उसके गुणो को जानता है, वह राग, द्वेष को आत्मा से सदा भिन्न जानता है और पहचानता है।

जो भेद ज्ञान द्वारा शुद्ध आत्मा की दृष्टि रखता है, उसे शुद्ध आत्मा की प्राप्ति होती है। जिस तरह स्वर्ण और ताम्रादिक का भेद ज्ञानी स्वर्ण दृष्टि रख कर शुद्ध स्वर्ण को पा लेता है।

आत्मा एक अविनाशी द्रव्य है। उसका ध्रुव स्वरूप है।

मै अविनाशी ज्ञाता दृष्टा शुद्ध एक निश्चय से हूँ।
एक अणु नही मेरा जग मे रूप रहित कहलाता हूँ ॥३३॥

जो अविनाशी निज को माने तन की चिन्ता नही करे।
ज्ञाता दृष्टा रूप स्वयं का, पर का स्वामी नही बने ॥३४॥

अविनाशी का नाश कभी नही, हानि वृद्धि ना उसकी हो।
अग्नि से भी वह जले नही, ना शस्त्रो से हानि हो ॥३५॥
पर्यायो मे भ्रमण करे वह फिर भी नाश न सत्का है।
पर्यायो का जन्म नाश हो आत्म द्रव्य तो ध्रुव ही है ॥३६॥

इस प्रकार भेद ज्ञान द्वारा जिसने निज पुद्गल गुणो से रहित आत्मा का एक रूप, शुद्ध रूप, ज्ञाता दृष्टा रूप, अरस अरूपी स्पर्श शब्द व गन्ध रहित जाना है वह अपना अविनाशी अस्तित्व जानता है, तथा ससार के एक अणु को भी निज स्वभाव और गुणो से विपरीत जानकर पर अनुभव करता है। वह आत्मा अनुभव करता है, कि मैं अविनाशी हू अर्थात् अनन्त काल व्यतीत हो जाने पर भी मेरा नित्य स्वरूप कायम है। सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल पर्याय धारण करने पर भी न तो मेरा एक प्रदेश कमहुआ और न एक प्रदेश वृद्धि को प्राप्त हुआ। मैंने अनन्त पर्याये धारण की है और उनका त्याग किया है। यह वर्तमान तन भी एक नाशमान पर्याय है, मै तो अविनाशी हू और पर्याय नाशमान है। अत यह शरीर मेरा नही है। इस शरीर को हानि वृद्धि मेरी हानि वृद्धि नही है। मै अनेक बार पर्याय अवस्था मे अग्नि मे जल गया, पानी मे गल गया, शस्त्रो से छिद भिद गया पर मेरे अविनाशीसत् स्वरूप आत्मा के अस्तित्व मे कुछ भी अन्तर नही आया। पर्यायो की ही उत्पत्ति व नाश हुआ मैं अविनाशी ध्रुव स्वरूप ही रहा। इस प्रकार जो अपने भगवान आत्मा के शुद्ध स्वरूप का चिन्तन करता है, उसका अनुभव करता है, अपने सत् स्वरूप मे अविचल श्रद्धान करता है, वह सम्यग्दृष्टि होता है।

आत्मा जब निज अनुभूति करता है वह सम्यग्दृष्टि बन जाता है—

निज आत्मा अनुभूति करलो आत्म तत्व को प्राप्त करो।
अनुभूति कर प्राप्त, स्वयं का ज्ञाता दृष्टा रूप धरो ॥३७॥
जिसको निज अनुभूति होती ज्ञाता दृष्टा वही बने।
अतः आत्म अनुभूति बिन ना कोई सम्यग्दृष्टि बने ॥३८॥

अत निज अनुभूति करो। यह जानने वाला है वह मै हूं, यह जो चिन्तन करने वाला है वह मै हू, देखने, सू घने, चखने, सुनने व छूने का

अनुभव करने वाला है वह मै हूँ । शरीर पुद्गल है, पुद्गल मे जानने देखने की शक्ति नही है । पुद्गल चेतन नही होता । अत सम्पूर्ण जानने की क्रिया करने वाला मै आत्मा हूँ । इस तरह चिन्तन व ध्यान करने से आत्मानुभूति होती है । आत्मानुभूति होने पर मै ज्ञान दर्शन गुण वाला हूँ तथा मेरे गुणो के अनुसार मेरा ज्ञाता दृष्टा स्वभाव है । यह प्रत्यक्ष हो जाता है जिसको आत्मा की अनुभूति हो जाती है वह प्रत्यक्ष मे देख लेता है कि मै ज्ञाता दृष्टा ही हूँ अत जो शास्त्र स्वाध्याय व गुरु वाणी से समझकर विश्वास किया था वह सत्य है । अत अनुभूति होने पर यह जीव सम्यग्दृष्टि बन जाता है ।

(भ्रमण बाह्य का व्यर्थ गया)

परिचय ना था निज का इससे भ्रमण किया जग नाप लिया ।
कस्तूरी निज की नाभि मे भ्रमण बाह्य का व्यर्थ गया ।।१।।
विभव अनन्त स्वयं का ही है पर ऊपर क्यो दृष्टि किया ।
पर को पर माने वह सम्यक्, पर, पर को निजमान लिया ।।२।।
पर को निज कहना चोरी है, यह है केवल मोहनशा ।
यह नशा दारिद्रय रूप है वैभव निज का भुला दिया ।।३।।
कोष लुटे छोटा सा दुख हो अनन्त चतुष्टय लुटा दिया ।
चिन्तामणि हो रत्न स्वयं क्यो दीन स्वयं को मान लिया ।।४।।
क्या स्वर्ण कभी रांगा बनता कण सदा स्वर्ण का स्वर्ण रहा ।
ओ चेतन तू स्वर्ण श्रेष्ठ है क्यो खोटा निज मान रहा ।।५।।
तुम मानव गति मे जन्मे हो मानव गति पायी धन्य तुम्हे ।
हे मानव तुम निज को जानो मानव बनना ना सुलभ तुम्हे ।।६।।
परिचय करलो परिचय करलो बिन परिचय के तू भटक गया ।
तेरा प्रभु तेरे अन्दर जो भ्रमण किया वह व्यर्थ गया ।।७।।

इति आत्मानुशीलनम् ग्रन्थ का आत्म परिचय अधिकार समाप्त हुआ ।

ज्ञाता दृष्टा अधिकार॥२॥

कार्य जगत मे कैसे होते विधि विधान उनका क्या है ।
इस रहस्य को जो नर जाने सम्यक् दृष्टि होता है ॥३६॥

कर्त्ता कर्म का रहस्य जानना सबसे अधिक महत्व पूर्ण कार्य है, क्योकि इस रहस्य को जानने से ही आत्मा के स्वरूप का भान होता है, इस रहस्य को जानने से ही षट् द्रव्य मय जगत् और उसके स्वरूप परिणमन का ज्ञान होता है, इस रहस्य को विना जाने कोई भी सम्यग्दृष्टि नही वन सकता अत कर्त्ता कर्म केरहस्य को जानना आवश्यक है ।

मनुष्य यह समझता है कि प्रतिक्षण जो प्रत्येक द्रव्य का परिणमन हो रहा है, उसमे उसका कर्त्तृत्व है, जगत् के कार्य उसके द्वारा सम्पन्न होते है ।

लेकिन यह मिथ्यात्व है । सूर्य चन्द्र और तारे क्या मनुष्य द्वारा गति प्राप्त करते है ? हवा और प्रकाश की गति क्या मनुष्य कृत है ? शरीर के त्याग करने के वाद जीव को गति कौन प्रदान-करता है ? मनुष्य के अन्दर रक्त सचालन और श्वास, हृदय कम्प आदि क्रियाये क्या मनुष्य की इच्छा से होती है ? सबका उत्तर यह है कि यह गतिया मनुष्य द्वारा सपादित नही होती है । गति मे तो धर्म द्रव्य ही निमित्त है। इसके अलावा सभी द्रव्य स्वगुण और स्वभाव के अनुसार देश काल और भाव के अनुसार परिणमन करते है, और इसी प्रकार ससार के कार्यो का सपादन हो रहा है ।

मनुष्य के जो क्रोधादि भाव उत्पन्न होते है उनका कर्त्ता भी चैतन्य स्वरूप आत्मा को मानना मिथ्यात्व है ।

इस ज्ञाता दृष्टा अधिकार मे कर्त्ता कर्म के इस रहस्य को समझाने का पूर्ण प्रयत्न किया गया है ।

कर्त्ता कर्म अधिकार के प्रारम्भ मे समयसार टीका कर्त्ता श्री अमृतचन्द्राचार्य कहते है—

एक कर्त्ता चिदहमिह मे कर्म कोपादयोऽमी ।
इत्यज्ञाना शमयदभित कर्त्ता कर्म प्रवृत्तिम् ।।
ज्ञान ज्योति स्फुरति परमोदात्तमत्यत धीरम् ।
साक्षात् कुर्वन्निरुपाधि पृथग्द्रव्य निर्भासि विश्वम् ।।

इस लोक मे मै चैतन्य स्वरूप आत्मा तो एक कर्त्ता है और यह क्रोधादि भाव मेरे कर्म है ऐसी अज्ञानियो की जो कर्त्ता कर्म प्रवृत्ति है उसे सब ओर मे शमन करती हुई ज्ञान ज्योति स्फुरायमान होती है वह ज्ञान ज्योति परम उदात्त है, अर्थात् किसी के आधीन नही है । अत्यन्त धीर है, आकुलता रूप नही है और पर की सहायता के बिना भिन्न २ द्रव्यो को प्रकाशित करने का उसका स्वभाव है। इसलिये वह समस्त लोकालोक को प्रत्यक्ष जानती है ।

आत्मा स्व स्वभाव व गुणानुरूप परिणमन करता है—

आत्मा ज्ञाता दृष्टा जग मे ज्ञान और दर्शन गुण है ।
स्व स्वभाव विपरीत कार्य वह कर न सके यह निश्चय है ।।४०।।

आत्मा के गुण ज्ञान और दर्शन है अर्थात् जानना और देखना यह आत्मा की स्वाभाविक प्रवृत्ति है और इसी कारण आत्मा ज्ञाता दृष्टा कहलाता है । आत्मा अपने स्वभाव के अनुसार ही कार्य कर सकता है, अपने ज्ञान दर्शन गुण और ज्ञाता दृष्टा स्वभाव के अनुसार जानना और देखना ही आत्मा का धर्म है । अपने स्वभाव के विपरीत कार्य करने की आत्मा की शक्ति नही है ।

आत्मा जिन पदार्थों को जानता और देखता है उनका वह कर्त्ता नही हो सकता है । क्योकि जो जानता है, वह कर्त्ता नही है और जो करता है वह जानता नही है । जैसे आखे जिस पदार्थ को देखती है, उनको करती नही है, उसी प्रकार आत्मा केवल ज्ञाता दृष्टा है कर्त्ता नही है

आत्मा अरूपी है अत वह किसी रूपी पदार्थ का अर्थात् पौद्गलिक पदार्थ का कर्त्ता बने यह सम्भव नही । क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह यह सभी पौद्गलिक हैं यही कारण है कि जब यह भाव आते हैं तब मुख का रग क्रोध मे लाल, माया मे काला तथा अन्य भावो मे भी भिन्न अन्य तरह का हो जाता है ।

प्रश्न—समय सार गाथा १२५ मे क्रोध मे उपयुक्त आत्मा को क्रोधी और मान मे उपयुक्त आत्मा को मानी कहा गया है अत आत्मा क्रोधादिक भावो का कर्त्ता है।

उत्तर—यह ठीक ही है लेकिन आत्मा के क्रोधादिक भाव अज्ञान अवस्था के भाव है। जिस प्रकार आदमी पागल हो कर जो चेष्टाऐ करता है वह उस मनुष्य की ही चेष्टा है और किसी की नही है। उसी प्रकार अज्ञान अवस्था मे क्रोधादिक का कर्त्ता स्वय आत्मा ही है। लेकिन पागल आदमी का पागलपन दूर हो जाने पर 'पागलपन के समय की चेष्टा उसी आदमी द्वारा की हुई होने पर भी उसकी नही मानी जाती, पागल अवस्था मे की गई मान कर न्यायाधीश भी उसको दण्ड नही देता। उसी प्रकार अज्ञान अवस्था मे क्रोधादिक का कर्त्ता आत्मा के स्वय के होने पर भी ज्ञान अवस्था मे आने पर आत्मा को क्रोधादिक का कर्त्ता नही माना जा सकता, अज्ञान अवस्था के सभी कर्म ज्ञान अवस्था प्राप्त होने पर निर्जरित हो जाते है।

देखिये समय सार गाथा—१२७

अज्ञान मयो भावो अज्ञानिन करोति तेन कर्माणि।
ज्ञान मयो ज्ञानिनस्तु न करोति तस्मात्तु कर्माणि ॥

अत यह सिद्ध होता है कि ज्ञानी आत्मा केवल ज्ञान रूप ही परिणमन करता अत वह क्रोधादिक भावो का कर्त्ता नही है।

पर्याय अवस्था मे आत्मा पर्याय स्वभावी होता है—

पर्याय अवस्था मे आत्मा पर्याय स्वभावी होता है।
द्रव्य दृष्टि से गुणानुरूप स्वभाव रूप परिणमता है ॥४१॥

प्रत्येक द्रव्य उत्पाद व्यय और ध्रौव्य स्वरूप होने से पर्याये धारण करता रहता है। आत्मा की प्रतिक्षण जो पर्याय बनती है वह भाव रूप होती है। ज्ञान अवस्था मे आत्मा की ज्ञान रूप पर्याय होती है। अरहन्त और सिद्ध भगवान का परिणमन ज्ञान रूप ही होता है। सम्यग्दृष्टि भी ज्ञान रूप परिणमन करता है। मिथ्यादृष्टि अज्ञान रूप परिणमन करता है अत कभी रागी, कभी क्रोधी, कभी द्वेषी, कभी मानी इत्यादि पर्यायो को धारण करता है।

आयु की दृष्टि से यह जीव मनुष्य देव नारकी और तिर्यन्च पर्यायो को धारण करता है। इन सब भावो मे जीव का स्वभाव भिन्न २ दिखाई

देता है तथा स्वभाव के अनुसार परिणमन भी देखा जाता है। जैसे सर्प स्वभाव से लोभी और क्रोधी होता है। कबूतर अत्यधिक कामी होता है। स्त्री स्वभाव से मायाचारिणी होती है। गुड स्वभाव से मधुर एव नमक स्वभाव से खारा होता है। नीम स्वभाव से कड़ुवा होता है।

लेकिन पर्याय धारण करने पर भी द्रव्य अपने स्वभाव को कभी नही छोडता अत आत्मा का ज्ञाता दृष्टा स्वभाव कभी नष्ट नही होता। अत द्रव्य दृष्टि से गुणानुरूप तथा स्वभाव रूप ही परिणमन करता है। निगोद अवस्था मे भी जीव ज्ञाता दृष्टा स्वभाव नही छोडता चाहे उसका ज्ञान अक्षर का अनन्तवा भाग ही हो। देव और मनुष्य अवस्था मे भी जीव ज्ञाता दृष्टा स्वभाव वाला ही रहता है।

पदार्थ स्व स्वभाव रूप परिणमन करता है, इसको उदाहरण द्वारा समझाते है।--

जैसे जल शीतल स्वभाव है अग्नि ऊष्ण स्वभावी है।
वैसे ही अविनाशी आत्मा ज्ञाता दृष्टा जग में है ॥४२॥

तीन लोक और तीन काल की ज्ञान शक्ति आत्मा मे है।
इक कण का भीउलट फेर करना नही इस केवश मे है ॥४३॥

आत्मा गुण और स्वभाव रूप परिणमन करता है इसको उदाहरण द्वारा समझिये--

जल स्वभाव से शीतल है, अग्नि का स्वभाव उष्ण है, यह दोनो अपने स्वभाव को कभी नही छोडते, तथा स्वभाव से विपरीत आचरण करे ऐसा भी नही होता, अर्थात् जल मे दाहक गुण तथा अग्नि मे शीतल गुण पैदा नही होता। इसी प्रकार आत्मा भी ज्ञाता दृष्टा स्वभाव वाला है, वह तीन लोक और तीन काल की सम्पूर्ण पदार्थो की सम्पूर्ण पर्यायो को एक साथ जानने और देखने की शक्ति रखता है। आत्मा अविनाशी है अर्थात् उसके असख्येय प्रदेशो मे से निगोद जैसी सूक्ष्म से सूक्ष्म पर्याय और एकेन्द्रिय से पन्चेन्द्रिय की वृहद से वृहद् पर्याय मे न तो कभी एक प्रदेश कम हुआ और न एक प्रदेश वृद्धि को प्राप्त हुआ।

आत्मा ज्ञाता दृष्टा है अर्थात् वह जान सकता है और देख सकता है पर ज्ञेय और दृश्य पदार्थो का कर्त्ता नही बन सकता क्योकि पर मे कर्तृत्व शक्ति आत्मा के स्वभाव से परे है। वह एक कण को भी इधर

उधर नही कर सकता ऐसा करना आत्मा की शक्ति से वाहर है

शंका—जल गर्म हो जाने पर शीतल स्वभाव न रह कर उष्ण स्वभावी हो जाता है क्या यह स्वभाव परिवर्तन नही है ?

उत्तर—जल के साथ पर अग्नि का सयोग होता है तव ही जल जला रहा है ऐसा प्रतीत होता है, वस्तुत जल जलाने का कार्य नही करता। जल के सूक्ष्म कणो के साथ जो अग्नि के सूक्ष्म कण है वे ही जला रहे है। कोई भी द्रव्य अपने स्वभाव से विपरीत कार्य कभी नही कर सकता।

देखिये समय सार गाथा—१०३—१०४

यो यस्मिन् गुणे द्रव्ये सोऽन्यास्मिनस्तुन सक्रामति द्रव्ये।
सोऽन्यदसक्रान्त कथ तत्परिणमयति द्रव्यम् ॥
द्रव्य गुणस्य चात्मा न करोति पुद्गल मये कर्मणि।
तदुभयमकुर्वंस्तस्मिन् कथ तस्य स कर्त्ता ॥

चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से क्रोधादिक कषाये पैदा होती है—

क्रोध मान और मायाचारी लोभ नही इसकी कृति है।
अज्ञान बने कारण इनका जो चारित्र मोह उदय से है ॥४४॥
कर्मोदय सेभाव बनें सब कर्मोदय से ही इच्छा।
उदित कर्म फल निज मत मानो बन्धन से तुम बचो सदा ॥४५॥

क्रोध, मान, माया, लोभ यह चार कषाये ससार बन्धन का मुख्य कारण है। इनका कर्त्ता आत्मा नही है, क्योकि आत्मा अज्ञान अवस्था मै क्रोधादि रूप परिणमन करता है। जिस प्रकार शराब के नशे मे मनुष्य अज्ञानी बन कर अनेक तरह की विकृत चेष्टाये करता है, वह विकृतिया शराब के नशे के कारण ही होती है, शुद्ध अवस्था मे मनुष्य ऐसी चेष्टाये नही करता। उसी प्रकार चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से अज्ञान और अज्ञान क्रोधादि कषायो का निमित्त कारण बनता है, शुद्ध आत्मा क्रोधादि रूप परिणमन नही करता अत आत्मा, क्रोधादि जो आस्रव, कर्म वन्ध के कारण है, उनका कर्त्ता नही है।

प्रतिक्षण कर्म का उदय होता है जिसके निमित्त से आत्मा की अज्ञानावस्था मे अज्ञान भाव और ज्ञानावस्था मे ज्ञान भाव पैदा होते हैं।

कर्म के उदय से सुख रूप या दुख रूप फलो की सृष्टि होती है। ज्ञानी आत्मा इन कर्म फलो को निज का न मानकर कर्मोदय के निमित्त से हुआ मानता है। भावो और इच्छाओ का भी वह कर्त्ता नही बनता, क्योकि सभी इच्छाये कर्मोदय के निमित्त से पैदा होती है। अत ज्ञानी भव्य जनो को वन्धन से वचने के लिये उदित कर्म फल का स्वामी या कर्ता नही वनाना चाहिये।

क्रोध, मान, माया। लोभ, राग, द्वेष, मोह यह सभी भाव चारित्र मोह के उदय से पैदा हुए अज्ञान के निमित्त से पैदा होते हैं। यद्यपि यह स्पष्ट है कि आत्मा ज्ञाता दृष्टा है लेकिन अनादि काल से अज्ञान के कारण वह अपने आपको क्रोधी, मानी इत्यादि मानता है, बस यही वह अज्ञान है जिसके कारण आत्मा के ज्ञान स्वभाव पर आवरण आता ही रहता है।

सुख दुख का कर्त्ता आत्मा नही है।

सुख दुख कर्मोदय के फल है निज कर्त्तृत्व न मान कदा।
कर्त्तृत्व भाव राग कारक है राग बन्ध को करे सदा ॥४६॥
राग भाव अज्ञान अवस्था यह है पुद्गल समझ जरा।
चेतन आत्मा को पुद्गल का कर्त्ता कहना है मिथ्या ॥४७॥

शुभ कर्म के उदय से सुख और अशुभ कर्म के उदय से दुख मिलता है, सुख दुख का जो स्वामी बनता है उसके पदार्थो मे इष्ट अनिष्ट कल्पना अवश्य पैदा होती है। इष्ट अनिष्ट कल्पना से राग, द्वेष की उत्पत्ति होती है राग, द्वेष कर्म वन्ध के कारण है।

राग पुद्गल है क्योकि चेतन नही है। राग पुद्गल है क्योकि आत्मा से भिन्न ही रहता है। राग आत्मा से भिन्न है क्योकि आता है और चला जाता है। राग आत्मा से भिन्न है क्योकि जिनके निमित्त से राग पैदा होता है वे आत्मा से भिन्न है।

राग भिन्न और अचेतन होने के कारण आत्मा की कृति नही है। सुख दुख का का कर्त्ता या स्वामी बनने से सुख दुख के निमित्त पदार्थो मे राग अवश्य पैदा होता है। राग का अर्थ किसी वस्तु से प्रेम करना या चिपकना है। एक सूई मे भी राग बुद्धि सूई के साथ वन्धन पैदा करती है अत राग वन्धन का कारक है, राग अचेतन है अत राग का स्वामी

आत्मा नही हो सकता क्योकि आत्मा ज्ञान दर्शन रूप परिणमन कर सकता है राग रूप नही। अत चेतन आत्मा को अचेतन राग का कर्त्ता कहना मिथ्यात्व है।

पर द्रव्यो का कर्त्ता यदि हो तन्ययता आ सकती है।
आत्मा तन्मय नही होता है फिर कर्त्ता वह कैसे है॥

समय सार गाथा १६

राग द्वेषादि नित्य नही है क्योकि आत्मा के स्वभाव नही है।

गुण स्वभाव ही द्रव्य रूप है वह उससे होता न विदा।
राग, द्वेष, क्रोधादिक सारे नित्य अवस्थित नही कदा॥४८॥

मोह स्थिति सप्तति कोड़ा कोड़ी सागर है उत्कृष्ट कहा।
फिर भी उसको जाना ही है नही नित्य उसको माना॥४६॥

द्रव्य का स्वरूप उसके गुण और स्वभाव से ही जाना जाता है। द्रव्य के गुण और स्वभाव द्रव्य मे नित्य रूप से रहते है द्रव्य के गुण और स्वभाव द्रव्य से कभी भी पृथक् नही होते। राग, द्वेष व क्रोधादिक कभी भी आत्मा मे नित्य रूप से नही रहते अत राग, द्वेषादिक आत्मा से भिन्न है।

मोह की स्थिति सत्तर कोडा कोडी सागर उत्कृष्ट कही है अर्थात् किसी वस्तु मे मोह के सस्कार सत्तर कोडा कोडी सागर तक रह सकते हैं, फिर भी उसका पृथक्त्व हो ही जाता है अर्थात् कोई भी विकृत भाव नित्य नही है।

केवल द्रव्य के गुण और उसका स्वभाव अनादि काल से है और अनन्त काल तक रहेगा। अत आत्मा के ज्ञान दर्शन गुण और ज्ञाता दृष्टा, स्वभाव आत्मा मे अनादि काल से है और अनन्त काल तक रहेगे, अत आत्मा अपने ज्ञान दर्शन परिणमन का ही कर्त्ता है।

पदार्थ स्व स्वभाव रूप परिणमन करता है और उसी का कर्त्ता होता है।

क्रोध कर्म निमित्त क्रोध का विकृतिकर्म निमित्त विकार।
जो कर्त्ता निज को न माने समझे वह धर्म का सार॥५०॥

स्वर्णभूषण स्वर्ण कहाते लौह से निर्मित लौह कहे।
आत्मा दर्शन ज्ञान मयी है दर्शन ज्ञान उसे ही कहे॥५१॥

आम के वृक्ष से आम पैदा होते है और बबूल के वृक्ष से काटे पैदा होते है, उसी प्रकार क्रोध कर्म का कर्त्ता क्रोध ही है और अन्य विकृतियो की कर्त्ता अन्य विकृतिया है। चेतन आत्मा जो ज्ञान का पिण्ड है ज्ञाता दृष्टा है वह इन विकृतियो का कर्त्ता नही है जो इस तत्त्व को समझता है वह धर्म के रहस्य को समझता है ।

स्वर्ण से बने हुए आभूषण स्वर्ण होते है और लोहे से बने हुए लोहा कहलाते है इस प्रकार ज्ञान दर्शन मय आत्मा ज्ञान दर्शन का जनक ही है।

अत सिद्ध होता है कि लोहे के बर्तन स्वर्ण से बने हुए नही कहलाते उसी प्रकार क्रोधादिक विकृतिया ज्ञान दर्शन मय आत्मा की कृति नही हो सकती ।

कर्म और अत्मा भिन्न भिन्न हैं—

कर्म विकृति और आत्मा दोनो भिन्न स्वभावी है।
गुण भी उनके पृथक् पृथक् है अतः भिन्न परिणामी है ॥५२॥
अमृत फल अमृत वर्षाता, विषवल्ली विष वमन करे।
आत्मा दर्शन ज्ञान मयी है, कर्म निमित्त आवरण के ॥५३॥

राग, द्वेष, मोह तथा क्रोधादिक भाव अज्ञान के निमित्त से पैदा होने वाले है तथा स्वय अज्ञान के निमित्त भी है। आत्मा ज्ञान दर्शन गुण वाला होने से केवल ज्ञाता दृष्टा है । अत आत्मा मे और राग, द्वेषादिक विकृतियो मे प्रकाश और अन्धकार जितना भेद है। अत कर्म विकृतियो का और आत्मा का स्वभाव भिन्न है विपरीत है अत इनका परिणमन भी स्वभाव के अनुसार ही होता है। अत इन दोनो के स्वभाव को तथा गुणो को जो जानता है वह इनके भेद को भी जानता है। यह भेद ज्ञानी आत्मा के स्वरूप को समझकर उसका ज्ञान कराने वाला है।

उदाहरण के लिये—अमृत फल से अमृत प्राप्त होता है और विष की बेल से विष ही प्राप्त होता है उसी प्रकार कर्म प्रकृतिया ससार बन्ध का कारण है और आत्मा स्वय दर्शन और ज्ञान मय होने के कारण ज्ञान रूप और दर्शन रूप ही परिणमन करता है। ज्ञान प्रकाश है सुख कारक है, परमानन्द कारक है और कर्म प्रकृतिया ससार मे भ्रमण कराने के लिये निमित्त है, दुख का कारण भूत है तथा आत्मा के ज्ञान गुण पर आवरण के निमित्त भूत है।

सुख दुख कर्मोदय के फल हैं—

कर्मोदय के असंख्य फल है सुख या दुख परिणाम मयी।
अतः कर्म सुख दुख निमित्त है आत्मा ज्ञाता दृष्टा ही ॥५४॥

कर्मोदय के निमित्त से यह जीव, जिनका सुख या दुख फल है ऐसे असख्य फलो को प्राप्त करता है। प्रति क्षण कर्मो का उदय होता रहता है और उस कर्मोदय के निमित्त से ही सुख या दु ख की सृष्टि होती है। इसलिये कर्मो को ही सुख और दु ख का निमित्त माना गया है।

इन कर्म फलो का स्वामी आत्मा नही है क्योकि आत्मा तो कर्म और कर्म फल का ज्ञाता दृष्टा ही है कर्त्ता या स्वामी नही है।

ज्ञानी जीव कर्म फलो को स्वामी भाव या कर्त्ता भाव से नही भोगता—

वियोग बुद्धि से उदय प्राप्त भोगो को ज्ञानी भोगे हैं।
भविष्य भोग इच्छा नही रखता भूत चिन्तना भी ना है॥
वेद्य वेदक भाव दोनो समय समय नश जाते है।
ज्ञानी को इच्छा नही उनकी ज्ञाता वनकर रहते है॥
वध भोग के निमित्त जो है अध्यवसान उदय से होते है।
उन ससार देह विषयो मे ज्ञानी राग ना रखते हैं॥
जो ज्ञानी सव ही द्रव्यो का राग छोडने वाला है।
अलिप्त कर्म मध्य मे रहता स्वर्ण यथा कीचड मे है॥

(समय सार प्रकाश गाथा २१५ से २१८)

विपरीत गुण वाले पदार्थो की सगति से विपरीतता भासित होती है।—

कर्म विकारो की संगति से शुद्ध आत्म अशुद्ध कहा॥
जिस विधि ताम्र, रजत संगति से शुद्ध स्वर्ण अशुद्ध कहा ॥५५॥
फिर भी स्वर्ण ताम्र नही वनता निज स्वरूप को ना तजता।
इस विधि विकृति के संग मे भी आत्म स्वभाव नहीं तजता ॥५६॥
ज्ञान भाव का कर्त्ता आतम स्वर्ण भाव का कर्त्ता स्वर्ण।
विकृत भाव नहीं आतम के लोह भाव नहीं करता स्वर्ण ॥५७॥

आत्मा एक शुद्ध चेतन द्रव्य है ज्ञान दर्शन मय है। लेकिन जैसे खान मे ही स्वर्ण के साथ अशुद्धिया लगी रहती है उसी प्रकार अनादि काल से आत्मा के साथ कर्म विकृतिया लगी हुई है। इन विकृतियो की सगति से ही शुद्ध आत्मा को अशुद्ध कहने मे आता है। जिस प्रकार ताम्र, रजत आदि की सगति से शुद्ध स्वर्ण अशुद्ध कहने मे आता है।

फिर भी स्वर्ण के कण स्वर्णत्व का त्याग नही करते और न विकृतियो को ग्रहण करते है। अनेक विकृतियो के साथ भी स्वर्ण का शुद्ध भाव अशुद्ध नही होता। इसी प्रकार राग, द्वेष, मोह और क्रोधादिक विकृतियो के साथ रहने पर भी आत्मा का शुद्ध स्वरूप शुद्ध ही बना रहता है, आत्मा कभी भी न तो अपने ज्ञाता दृष्टा स्वभाव को छोडता है और न ज्ञान दर्शनादि गुणो का त्याग करता है।

आत्मा अपने ज्ञान भाव का कर्त्ता है और स्वर्ण अपने स्वर्ण भाव का कर्त्ता है। आत्मा अपने ज्ञान भाव से विपरीत कर्त्ता भाव को कभी नही करता। तथा राग मय, द्वेष मय, क्रोधादि भावो को कभी नही करता। उसी प्रकार स्वर्ण भी सदा स्वर्ण भाव को ही करता है लौह भाव को नही नही करता।

मोहाच्छादित आत्मा उन्माद रोग से ग्रसित मनुष्य की तरह है।

मद निमित्त से मद पैदा हो नही वह ज्ञानी का कर्म।
आत्मा मोहाच्छादित जब है तभी करे वह विकृत कर्म ॥५८॥
मस्तिष्क रुग्ण जब हो जाता है ज्ञान केन्द्र विकृत बनता।
तब प्राणी उन्मत्त कहाता उन्मादी है बन जाता ॥५९॥
उन्माद अवस्था मे यह प्राणी विकृत चेष्टा किया करे।
निज वस्त्रो को फाड़े ताड़े निज शरीर आहत करले ॥६०॥
उन्मादी अज्ञानी बन कर कर्म फलो का भोग करे।
इसी तरह यह जीवराज भी मोहच्छादित भोग करे ॥६१॥
उन्मादी जन यह ना जाने किन कर्मो के भोग हुए।
उसी तरह मोहाच्छादित भी कर्म कर्म फल ना जाने ॥६२॥
भेषज के बल उन्मादी का रोग दूर जब होता है।
चेष्टा उसकी ठीक बने और ज्ञानी वह कहलाता है ॥६३॥

उसी तरह से मोहाच्छादित मोह हटे मोही न रहे।
ज्ञान पूर्ण सब परिणति बनती जिन प्रभु ज्ञानी उसे कहे ॥६४॥

उन्माद अवस्था के सब अवगुण क्षम्य जगत में होते है।
जीवराज जब ज्ञानी बनता पूर्व कर्म झड़ जाते है ॥६५॥

जब कोई व्यक्ति मद का सेवन कर लेता है तब उसको नशा उत्पन्न हो जाता है, नशे की अवस्था मे वह अनेक तरह की विकृत चेष्टाये करता है वह नशे के कारण है, उसकी चेष्टाओ को ज्ञानी की न कह कर अज्ञानी की कहते है। उसी तरह यह आत्मा अनादि काल से मोह से आच्छादित,(ढका हुआ) है। मोह से आच्छादित होने के कारण ही विकृत भाव उत्पन्न होते है। जो विकृत कार्य होने मे निमित्त बनते है।

जब किसी व्यक्ति का मष्तिष्क रुग्ण हो जाता है । उसका ज्ञान केन्द्र विकृत हो जाता है, उसकी क्रियाये ज्ञान पूर्ण न होने के कारण उसको उन्मत्त कहते है। उन्मत्त या उन्मादी एक ही अर्थ के वाचक है। उन्माद (पागल) अवस्था मे वह व्यक्ति अज्ञान पूर्ण चेष्टाये करता है । अपने स्वय के कपडो को फाडने लगता है, अपने स्वय के शरीर को क्षत विक्षत कर लेता है। वह उन्मादी उन्माद अवस्था मे अपने किये हुए कार्यो के फल भी भोगता है। इसी प्रकार मोह से आच्छादित यह जीव अपने स्वरूप को न जानने के कारण अपने आप को राग, द्वेष, मोह व क्रोधादि भावो का कर्त्ता मानता है, सासारिक पर वस्तुओ से राग करने के कारण उन वस्तुओ से बधा हुआ रहता है। अज्ञान अवस्था दुर न होने के कारण वह मोह का सस्कार सत्तर कोडा कोडी सागर तक बना रह सकता है, और यह जीव मोह से कर्मो के बन्धन मे बधा हुआ रहता है।

जिस प्रकार उन्मादी स्वय की विकृत चेष्टाओ का फल पाता हुआ भी यह नही जानता कि मुझे यह दण्ड अथवा दुख किस कारण से मिलता है। इसी प्रकार मोहाच्छादित जीव तीव्र अज्ञान से ग्रसित होने के कारण कर्म और कर्म फलो को व उनके कारणो को नही जानता।

उन्मादी को दवा का निमित्त मिलने से जब रोग दूर हो जाता है, तब उसकी चेष्टाये सुधर जाती हैं, ठीक हो जाती है, फिर वह पागल नहीं कहलाता। उस को समाज ज्ञानी ही मानता है । उसी तरह जब

इस जीव के मोह का परदा हल्का हो जाता है, मोहनीय कर्म की स्थिति अन्त कोडा कोडो सागर रह जातो है, तब इस को स्व व पर का ज्ञान होता है, तब यह जोव अपने स्वरूप को पहचानता है और अपने अनन्त चतुष्टय के वैभव को जानता है। ऐसा जीव सम्यग्दृष्टि बन सकता है जिन प्रभु उसको ज्ञानी कहते है।

उन्मादी को उन्माद अवस्था के कार्यो का दण्ड उन्माद दूर हो जाने पर नही मिलता उसके अपराध क्षम्य माने जाते है। उसी प्रकार मोह का घन पटल दूर होने पर यह जीव ज्ञानी हो जाता है, उसके अज्ञान अवस्था मे बधे हुए कर्म झड जाते है।

क्रोध और रागादिक आत्मा से अन्य है, ज्ञान और दर्शन आत्मा से अनन्य है—

ज्ञानी ज्ञान भाव का कारण ज्ञान भाव का कर्त्ता है।
मोह और अज्ञान भाव का कर्त्ता वह नही होता है ।।६६।।

उपयोग अनन्य जीव से रहता, क्रोधादिक ना रहते है।
क्रोधादिक है पुद्गल सब ही अनन्य स्वयं से रहते है ।।६७।।

अगर जीव पुद्गल बन जावे या यह पुद्गल जीव बने।
क्रोध और रागादिक तब ही अनन्य जीव से 'मीत' बने ।।६८।।

गुण स्वभाव अनन्य द्रव्य से गुण स्वभाव भाव कर्त्ता।
पर गुण पर स्वभाव भाव का बन सकता ना वह कर्त्ता ।।६९।।

आत्म ज्ञानी अपने ज्ञान भाव का स्वय ही कारण और स्वय ही कर्त्ता है लेकिन मोह और अज्ञान का न तो वह कारण है और न कर्त्ता है।

उपयोग जीव का लक्षण है अर्थात् जीव उपयोग स्वरूप होता है। अत उपयोग जीव से अनन्य है। क्रोधादिक भाव न तो जीव के लक्षण है और न जीव के स्वभाव है अत क्रोधादिक जीव से अनन्य नहीं हैं अर्थात् क्रोधादिक जीव से भिन्न है। क्रोधादिक सम्पूर्ण भाव पुद्गल के निमित्त से पैदा होने के कारण पुद्गल ही है अत चेतन ज्ञाता से भिन्न हैं। क्रोधादिक क्रोधादिक स्वरूप है अत. क्रोधादिक स्वयं से अनन्य हैं।

जीव उपयोग लक्षण और चेतन लक्षण वाला है, क्रोधादिक न तो उपयोग लक्षण वाले है और न चेतन हैं, अन व पुद्गल है। पुद्गल जीव मय नही हो सकता और जीव पुद्गल मय नही हो सकता, अत क्रोधादिक और रागादिक जीव नही हो सकते और न जीव क्रोधादिक बन सकते हैं।

प्रत्येक द्रव्य मे गुण होते हैं और प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव होता है, उन गुणो और स्वभाव के कारण ही वह द्रव्य होता है। जैसे जीव के गुण ज्ञान और दर्शन है, जीव का स्वभाव ज्ञाता दृष्टा होता है। पुद्गल रूप रस गन्ध और स्पर्श वाला होता है। इसी प्रकार अन्य द्रव्यो के भी गुण और स्वभाव होते हैं।

प्रत्येक द्रव्य अपने स्वभाव का ही कर्त्ता होता है, एक द्रव्य दूसर द्रव्य के स्वभाव भाव का कर्त्ता नही होता।

ससार मे जो कार्य होते है उनकी विधि इस प्रकार है--

सभी कार्य क्रमबद्ध जगत के क्रम क्रम से वे होते है।
पर्यायें भी क्रम क्रम से ही निज स्वरूप परिणमति हैं ॥७०॥
कर्मोदय से भाव बनें जो, वे भी सभी सुनिश्चित हैं।
आत्म प्राप्ति हित जो उद्यम हो वह भी क्रम में स्थित हैं ॥७१॥
आत्मा तो ज्ञाता दृष्टा है नही कार्य को करता है।
कर्मोदय से भाव है बनते निमित्त वह कहलाता है ॥७२॥
अब बोलो हे ज्ञानी प्राणी आत्मा कर्त्ता किस विध है।
कर्त्ता कर्म कहानी जग मे क्या एक नाटक ना है ॥७३॥
ज्ञाता दृष्टा उदित भाव का भी ज्ञाता बन कर रहता।
कर्मों के इस व्यूह चक्र का वह निश्चित भेदन करता ॥७४॥
जो कर्त्ता ना निज को माने वह भोक्ता भी नही बने।
बस यही भेद हैं जिससे वह तो कर्म बंध मे नही सने ॥७५॥
यदि तुम चाहो कर्म संतति भन्जन करना हे प्राणी।
कर्मोदय भावो के कर्त्ता बनना छोड़ो बन ज्ञानी ॥७६॥

अब यह समझा रहे है कि कर्तृत्व बुद्धि मिथ्यात्व है, क्योकि ससार के जितने भी कार्य है वे पहले से ही सुनिश्चित हे, उन कार्यो के सम्पादन

हेतु जो निमित्त बनते है, वे भी निश्चित है और जो उन कार्यो के करने हेतु भाव बनते है, वे भी निश्चित है । सर्वज्ञ भगवान के भूत भविष्य और वर्तमान की सभी पर्याये ज्ञान मे युगपत् झलकती है अर्थात् सर्वज्ञ भगवान ने जिस कार्य को जिस विधि से जिस क्षेत्र और काल मे होते देखा है वह उसी क्षेत्र और काल मे उसी विधि से होगा यह निश्चित है । कोई कार्य होना है उसमें भाव भी होते है, अत किस कार्य के लिये कौनसे भाव किस समय बने, यह भी निश्चित है ।

प्रश्न--यदि सभी कुछ पहले से ही निश्चित है यह माना जावेगा, तो पुरुषार्थ हीनता पैदा हो जायगी ।

उत्तर--पुरुषार्थ हीनता का प्रश्न ही नही है उदाहरण के लिये किसी केवल ज्ञानी ने यह देखा कि यहा एक जलाशय बनेगा तो फिर जलाशय आसमान से उतर तो आ नही जायेगा-वहा मिट्टी की खुदाई होगी उसमे हजारो आदमी काम करेंगे तब ही तो वह जलाशय बनेगा । जलाशय बनाने के भाव भी किसी राज्याधिकारी या जनता के बनेगे उसके लिये राज्यादेश बजट वगैरह सभी स्वीकृत होगे तब ही वह जलाशय बन पायेगा अत कार्य के साथ तत्सम्बन्धी पुरुषार्थ भी जुडा हुआ है, अत पुरुषार्थ हीनता होने का प्रश्न ही पैदा नही होता ।

सिर्फ यह ज्ञान कराने का उद्देश्य है कि सभी कार्य द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के अनुसार पूर्व मे ही सुनिश्चित है अत तेरा कर्त्तृत्व कहा है ? न तू किसी कार्य का कर्त्ता है और न किसी का कर्म है ।

तू एक शुद्ध आत्म द्रव्य है तेरा स्वभाव ज्ञाता दृष्टा है क्या कोई भी द्रव्य अपने स्वभाव और गुणो से अतिरिक्त परिणमन कर सकता है ? नही । अरे भाई ज्ञाता दृष्टा का अर्थ जानने वाला और देखने वाला होता है । ज्ञाता दृष्टा का अर्थ करने वाला नही होता । अत अपने मिथ्या भाव को हटा कि तू किसी कार्य का करने वाला है ।

जीव के जो भाव बनते है वे प्रतिक्षण होने वाले कर्मोदय के निमित्त मे बनते है । अत भावो का कर्त्ता भी तू नही है । अत हे ज्ञानी प्राणी तुम किसी भी पर कार्य के कर्त्ता नही हो । तुम्हारे स्वभावानुसार जो ज्ञान दर्शन रूप परिणमन होता है, तुम केवल उसी के कर्त्ता व स्वामी हो ।

कर्म सभी पुद्गल है अत उनके निमित्त से पैदा होने वाले भाव भी पुद्गल है। वे भाव इसलिये भी पुद्गल है कि आत्मा के स्वभाव से उनका स्वभाव विपरीत है। पुद्गल से जीव का क्या नाता, पर यह जीव अज्ञान अवस्था मे पुद्गल को निज मानता है। भाई जिसको तुम निज मानोगे उससे तुम्हारा वन्धन होगा या नही ? ससार बन्धन यही है कि तुम पर पदार्थो मे ममत्व बुद्धि बनाये हुए हो तुम्हारी यह बुद्धि ही वन्धन बनाये हुए है यह मिथ्या बुद्धि जब शुद्ध हो जायगी तब तुम्हारा वन्धन स्वत समाप्त हो जायगा। तुम ससार मे किसी भी वस्तु किसी भी कार्य के न कर्त्ता हो और न स्वामी, यह एक वस्तु स्वरूप है। भाई इस तत्व को समझोगे तब ही तुम्हारी दृष्टि सम्यक् कहलायेगी।

कर्त्ता कर्म की कहानी एक नाटक है, जिस प्रकार नाटक में सब पात्र बनावटी और सब कार्य बनावटी है उसी प्रकार इस ससार मे कर्त्ता कर्म कहानी झूँठ है। जो जीव इस रहस्य को समझकर अपने ज्ञाता दृष्टा स्वभाव को समझकर स्वचालित ससार के कार्यो और औपाधिक भावो का कर्त्ता नही बनता वह सम्यक् दृष्टि है, जिसके कारण वह कर्मो के व्यूह चक्र का भेदन करने मे समर्थ होता है।

जो कर्त्ता नही है वह भोक्ता भी नही है, यह एक तथ्य है, अत जीव केवल ज्ञाता दृष्टा है, अत हे भव्य प्राणी यदि तुम ससार चक्र का भेदन करना चाहते हो तो अपने कर्त्ता भोक्ता भाव का त्याग कर ज्ञानी बनो जिससे कर्म वन्ध मे न फसो।

ससार के कार्य स्वचालित है इसको उदाहरण से समझाते हैं—

सूर्य चन्द्र निज गति से चलते तारा मण्डल उसी तरह।
विग्रह गति मे जीवराज भी चलता विन पुरुषार्थ किये ॥७७॥

एक समय मे एक अणु की चौदह राजु गति कैसे।
कौन प्रेरणा उसको करता जो गति करता है ऐसे ॥७८॥

निज शरीर के भीतर गतिया किसके कहने से होती।
श्वासोच्छ्वास और हृदय कम्प की गतियां प्रतिक्षण क्यो होती ॥७९॥

मूत्र और मल त्याग करन को कौन समय पर कहता है।
जग की सारी क्रिया व्यवस्थित धर्म अधर्म निमित्त से है ॥८०॥

उदाहरण द्वारा अब यह समझा रहे है कि इस ससार मे सम्पूर्ण क्रियाये स्वचालित है जिसके निमित्त कारण धर्म व अधर्म द्रव्य है। सूर्य चन्द्र और तारा मण्डल प्रतिक्षण निज गति से चल रहे है। जीव जब एक शरीर को छोड कर जब दूसरे शरीर को धारण करता है तब बिना पुरुषार्थ के ही असख्यात योजन तक चलता है। एक समय मे बिना किसी प्रेरणा के एक पुद्गल परमाणु चौदह राजू तक गति कर सकता है। जीव जिस शरीर के साथ रहता है, उसमे भी श्वासोच्छ्वास हृदय कम्प मल मूत्र त्याग आदि क्रियाये स्वचालित ही है। अत धर्म अधर्म द्रव्य जो कि गति स्थिति मे निमित्त,कारण है, उनके कारण ही यह गतिया हो रही है, किसी की प्रेरणा या कर्त्तृत्व के कारण नही। गतियो मे द्रव्य क्षेत्र, काल और भाव भी कारण है।

अत हे भव्य जीव तू अपने कर्त्तृत्व भाव को छोड कर ज्ञाता दृष्टा बन कर रह।

सासारिक कार्य करना पुरुषार्थ नही है, पुरुषार्थ का सम्मक् रूप इस प्रकार है—

पुरुषार्थ नाम तो बहुत सुना पुरुषार्थ अर्थ ना जाना है।
आत्म प्राप्ति पुरुषार्थ जानना सम्यग्ज्ञान बखाना है ॥८१॥

स्व पर का जो भेद जान ले स्व स्वरूप सम्यक् जाने।
निज वैभव को जो पहचाने निज आत्मा वह ही जाने ॥८२॥

आत्म प्राप्ति पुरुषार्थ और नही, निजमे निजको रहना है।
निज स्वरूप मे रहने को पुरुषार्थ प्रभु ने माना है ॥८३॥

निज मे रहना आत्मरमण शास्त्रो में 'खूब बखाना है।
निज पर को जो सम्यक् जाने रमण कर सके माना है ॥८४॥

पुरुषार्थ नाम से डरो नही, पुरुषार्थ नही कुछ करना है।
केवल ज्ञाता दृष्टा बनकर आतम घर मे बसना है ॥८५।

आतम घर मे ही रहना है पुरुषार्थ और ना करना है।
भवन किराये का ना है यह पूर्ण सुखी हो रहना है ॥८६॥

प्रश्न—आचार्य कुन्द कुन्द ने समय सार के मोक्ष अधिकार मे लिखा है कि बिना पुरुषार्थ यह जीव निज को बन्धन युक्त मानता हुआ

भी जब तक बन्धन को स्वय नही काटा करता है तब तक बन्धन से मुक्त नही होता, अत आत्म प्राप्ति पुरुषार्थ करने वाला भी क्या कर्त्ता नही बनता ?

उत्तर--हे भाई तुमने पुरुषार्थ का नाम तो बहुत सुना परन्तु पुरुषार्थ जो मोक्ष प्राप्ति के लिये करना है इसको समझा नही है। जो शुद्ध आत्मा की उपलब्धि के लिये पुरुषार्थ करना पडता है, उसको जानना ही सम्यग्ज्ञान कहलाता है, वह विधि क्या है, इसको सुनो।

मै स्वभाव से एक शुद्ध आत्म द्रव्य हूँ। मै उपयोग लक्षण वाला चेतन स्वरूप ज्ञान दर्शन मय हूँ। मै अनन्त धर्मी हूँ। मेरा वैभव अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य एव अनन्त सुख है। मै न मनुष्य, न देव न तिर्यन्च और न नारकी हूँ। मै सभी पर्याये धारण करता हुआ भी एक चेतन स्वरूप शुद्ध आत्मा ही हूँ। पर्याय के कारण जो राग द्वेषादिक विकृतिया उत्पन्न होती है, उनसे भिन्न हूँ। अर्थात् मेरे शुद्ध स्वभाव मे राग, द्वेषादिक विकृतिया उत्पन्न नही होती है। ज्ञान रूप परिणमन का तो मै कर्त्ता हूँ लेकिन मोहनीय कर्म के उदय से जो अज्ञान पैदा होता है उसके निमित्त से जो आत्मा मे राग, द्वेपादिक भाव उत्पन्न होते है उनसे मै भिन्न हूँ क्योकि आत्मा ज्ञान स्वरूपी है और ज्ञान रूप परिणमन ही कर सकता है। राग, द्वेपादिक भाव पर के निमित्त से पैदा होने के कारण आत्मा से भिन्न है। आत्मा ज्ञान मय है और राग, द्वेष परिणति अज्ञान है। ज्ञान से अज्ञान कभी पैदा नही होता। जिस प्रकार प्रकाश से अन्धकार पैदा नही होता, प्रकाश का अभाव अन्धकार होता है उसी प्रकार ज्ञान का अभाव अज्ञान है। और ज्ञान, अज्ञान का कर्त्ता नही है।

आत्मा के गुण ज्ञान और दर्शन है, अर्थात् आत्मा ज्ञाता दृष्टा स्वभाव वाला है। जब आत्मा अपने ज्ञाता दृष्टा स्वभाव को जान लेता है, तब वह स्व को जान लेता है, और अपने गुणो से विपरीत कर्म और नोकर्म को जान लेता है तब वह पर को जान लेता है। जो स्व और पर दोनो को जानता है उनके गुण और स्वभाव को जानता है वह दोनो का भेद समझ लेता है।

स्व और पर के भेद को जान कर जो स्व मे स्व कोस्थित करता है वह स्व स्थिति ही सच्चा पुरुषार्थ है, स्व स्थिति को ही आत्म रमण कहते है।

स्व स्थिति ही सम्यक् चारित्र है स्व स्थिति से ही कर्म सतति का भन्जन एव मोक्ष की प्राप्ति होती हे। अत हे भव्य जीवो ! पुरुषार्थ का अर्थ किसी पहाड को उठाना या नदी नद को पार करना नही है। आत्म प्राप्ति पुरुषार्थ तो केवल निज घर मे बसना ही है। अर्थात् आत्मा को आत्मा मे हो रहना है और कुछ नही करना है। आत्मा जब निज मे रहता है तब उसको अनन्त आनन्द का अनुभव होता है। आत्मा निज मे रहने का कर्त्ता है और निज मे रहना ही कर्म है।

इति आत्मानुशीलनम् ग्रन्थ का ज्ञाता दृष्टा अधिकार समाप्त।

ओ चेतन तु स्वयं निकेतन निज सुख का कर वेदन।
तुझे पिलादू अमृत तजदे कर्म फलो का सेवन ॥१॥
दुख तेरा सब ही मिट जावे ना करे तेरा कोई बन्धन।
कर्त्तृत्व भाव यदि तू निकाल दे जिस कारण है बन्धन ॥२॥
सुख दुख की यह सभी कल्पना, है कर्मोदय कारण।
ध्यान सदा रख, निमित्त भाव रख, कर्त्ता स्वामी मत बन ॥३॥
यह सत्य है तेरे बल से तो हिले नही इक भी कण।
फिर कर्त्ता मै हूं, करदे तू इस मिथ्याभिमान का खन्डन ॥४॥
रूप रहित तू, तेरे गुण है ज्ञान वीर्य सुख दर्शन।
निज गुण और स्वभावमयी बन, फिर न बनेगा बन्धन ॥५॥
निज गुण और स्वभावमयी बन, वश करले इन्द्रिय अरु मन।
सप्त तत्व श्रद्धानी बन कर, पावे सम्यग्दर्शन ॥६॥
रत्नत्रय स्वामी बनने से, कटे कर्म का वन्धन।
जब कर्मो को निज ना माने, क्यो बने कर्म से बन्धन ॥७॥
नव निर्माण छोड कर जो जन, तजे पूर्व के तन धन।
उस प्राणी ने तोड दिये बन्धन नव और पुरातन ॥८॥
इसी तरह कर्त्तृत्व भाव, जब तज देता हैं चेतन।
बन्धित कर्मो से हटा स्वयं को, करदे सन्तति भन्जन ॥९॥
प्रभु कहे हे भव्य प्राणीयो ! मत करो कर्म से वन्धन।
पर कर्त्ता अरु स्वामी बनकर क्यो भ्रमण करो वन नन्दन ॥१०॥

आस्रव अधिकार

चार प्रकार के आस्रव है। मिथ्यात्व सबसे बडा आस्रव है–

आस्रव प्रत्यय है कहलाते, कर्मबन्ध के कारण हैं।
मिथ्यात्व अविरमण कषाय योग यह चार प्रकार कहाते हैं ।।८७।।

मिथ्यात्व है कारण सबसे भारी तत्व ज्ञान अवरोधक हैं।
सम्यग् दर्शन होने मे भी यही एक अवरोधक है ।।८८।।

विपरीत और एकान्त विनय संशय अरु अज्ञान कहे।
पांच भेद मिथ्यात्व नाम के हटा इन्हे बन ज्ञानी रे ।।८९।।

मिथ्यात्व, अविरमण, कषाय और योग यह चार, कर्मो के आस्रव के निमित्त होने से आस्रव है। आस्रवो के निमित्त भूत, राग, द्वेष मोह है जो कि ज्ञान के अभाव मे अज्ञानी के होते है।

अनन्त ससार मे भ्रमण करने का मुख्य कारण मिथ्यात्व है। जब तक इस जीव को जीव, अजीव, आस्रव, सवर निर्जरा बन्ध और मोक्ष इन सात तत्वो का सम्यक् ज्ञान नही होता तब तक यह जीव मिथ्यात्वी कहलाता है। इन सात तत्वो का जब ज्ञान हो जाता है तब यह जीव स्व और पर जान लेता है। शास्त्रकारो ने ऐसा माना है कि जब मोहनीय कर्म की स्थिति अन्त कोडा कोडी सागर रह जाती है तब ही इस जीव को स्व, पर का ज्ञान होना सभव है, स्व, पर का ज्ञान होने पर यह तत्वार्थ ज्ञाता होता है और इसका मिथ्यात्व दूर होता है तथा यह सम्यग्दृष्टि बनता है।

मिथ्यात्व के पाच भेद है, विपरीत मिथ्यात्व, एकान्त मिथ्यात्व, विनय मिथ्यात्व, सशय मिथ्यात्व और अज्ञान मिथ्यात्व। हे भव्य जीव! तू पाचो मिथ्यात्वो को, पाचो मिथ्यात्वो के करणो को जान कर हटा दे और ज्ञानी बन जा।

मिथ्यात्व आस्रव का स्वरूप—
विपरीत मिथ्यात्व का विवेचन करते है।

आत्म द्रव्य ज्ञाता दृष्टा है, दर्शन और ज्ञान गुण है।
आत्म स्वभाव विपरीत जो माने, वह जग मे मिथ्यात्वी है ॥६०॥

ज्ञाता दृष्टा जो होता है वह कर्त्ता ना होता है।
आखें देखें सभी वस्तुयें उनकी कर्ता वे ना है ॥६१॥

पुद्गल रूपी आत्म अरूपी पुद्गल तो चेतन ना है।
नहीं परस्पर कार्य के कर्त्ता निज स्वभाव परिणामी है ॥६२॥

जीव नाम का व्यवहार मे ससारी जोवो के लिये प्रयोग करते है। निश्चय से जीव आत्मा ही है ससार के सम्पूर्ण जोवो मे आत्मा विद्यमान है।

आत्मा एक स्वतन्त्र द्रव्य है उसके स्वय के गुण है और वे गुण ज्ञान और दर्शन नाम से कहे जाते है। आत्मा अपने गुणो के अनुसार ज्ञाता दृष्टा स्वभाव वाला है। निज स्वभाव और गुणानुरूप ही सम्पूर्ण द्रव्यो का परिणमन होता है, अत आत्मा जानने और देखने का ही कार्य करना है लेकिन ज्ञेय और दृश्य पदार्थ या कार्य का वह कर्त्ता नही है। जिस प्रकार आखे देखने का कार्य करतो है पर दृश्य पदार्थो की कर्त्ता नही होती है। अत यह सिद्धान्त सत्य है कि जो ज्ञाता होता है वह कर्त्ता नही होता, लेकिन मिथ्यात्वी जीव तत्व ज्ञान से रिक्त होने के कारण अपने ज्ञाता दृष्टा स्वभाव को भूलकर दृश्य व ज्ञेय पदार्थो का कर्त्ता या स्वामी बन जाता है, यह आत्मा के स्वभाव से विपरीत ज्ञान, विपरीत मिथ्यात्व कहलाता है। विपरीत मिथ्यात्व के कारण इस जीव को स्व और पर का ज्ञान भी नही होता। अत वह ससार के सम्पूर्ण पर पदार्थो को निज मानता है पर पदार्थो मे राग, द्वेष, मोह बुद्धि रखता है, जिसके कारण उन २ पदार्थो से उसका बन्धन रहता है और इसी मोह के कारण ससार भ्रमण करता है।

पर्याय दृष्टि से राग, द्वेषादिक विकृतिया जीव कृत है द्रव्य दृष्टि से नही—

पर्याय दृष्टि से विकृति निज की, द्रव्य दृष्टि से भिन्न कही।
पर्याय दृष्टि और द्रव्य दृष्टि से जो जाने वह ज्ञान सही ॥६३॥

द्रव्य नित्य, पर्यायें नश्वर उत्पाद ध्रौव्य व्यय जिनसे हैं।
देव मनुज की पर्यायें ही पैदा होती नशती हैं ॥६४॥

मनुज पर्याय नष्ट जब होती देव अन्य वा होते हैं।
आत्म द्रव्य है सदा शाश्वत उत्पाद नाश जिसका ना है ॥६५॥

राग, द्वेष, मोह तथा क्रोधादिक विकृतिया है क्योकि यह आत्मा के स्वभाव से विपरीत है। आत्मा के शुद्ध स्वभाव मे पर पदार्थो मे ममत्व भाव नही है। क्योकि शुद्ध आत्मा अपने ज्ञाता दृष्टा स्वरूप को जानता है अत वह स्व को स्व और पर को पर रूप मे देखता है अत विकृतियो को पर रूप मे देखता है, क्योकि राग, द्वेषादिक विकृतिया मोहाच्छादित अज्ञानी आत्मा के पैदा होती है। जब आत्मा अपना उपयोग क्रोध मे लगाता है तब वह क्रोधी, राग मे लगाता है तब रागी होता है तथा क्रोध रागादिक तत् तत् समय की पर्याय कहलाती है। जिस प्रकार अग्नि के निमित्त से ऊष्ण हुआ जल ऊष्ण कहलाता है उसी प्रकार चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से क्रोधादिक उपयोग मे लगा हुआ आत्मा क्रोधी मानी आदि होता है।

द्रव्य दृष्टि से तो आत्मा ज्ञाता दृष्टा ही है, वह क्रोध का या राग का कर्ता नही हो सकता लेकिन अज्ञान के निमित्त से जब आत्मा क्रोधादिक मे लीन होता है तब वह क्रोधादिक विकृतिया आत्मा की निज मानी जाती है।

जिस प्रकार मद्य के नशे मे मनुष्य की सभी विकृत चेष्टाये उसकी स्वय की है लेकिन वे विकृतिया मद्य के नशे के कारण से है अत वे विकृतिया नशा हटने के बाद ज्ञानी मनुष्य की नही कहलाती।

अत अज्ञान जनित पर्याय अवस्था मे विकृतिया आत्मा की कहलाती है शुद्ध अवस्था मे विकृतिया आत्मा की नही है। अत जो आत्मा को द्रव्य दृष्टि से और अज्ञान निमित्त से जनित पर्याय अवस्था से देखता है और जानता है, वह ज्ञान सत्य है।

द्रव्य तो नित्य है और पर्याये नाशवान है, देव मनुष्य तिर्यन्च नारकी आदि सब पर्याये है। इन पर्यायो मे रहने वाला आत्मा एक है। मनुष्य पर्याय को छोडकर वही आत्मा देव पर्याय धारण कर लेता है, देव पर्याय को छोडकर वही आत्मा मनुष्य अथवा तिर्यन्च, नारकी पर्याय धारण कर लेता है।

द्रव्य उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य स्वरूप होता है। वह पर्याय के कारण ही है। पर्याय का ही उत्पाद व व्यय होता है द्रव्य तो सदा शाश्वत है।

इस प्रकार द्रव्य गुण और पर्याय सब ही दृष्टियो से जो तत्व को समझता है उसके एकान्त मिथ्यात्व नही होता, लेकिन जो द्रव्य दृष्टि के बिना अथवा गुण पर्याय दृष्टि के बिना तत्व विवेचन करते है वे एकान्त मिथ्यात्वी कहलाते है।

पच परमेष्ठी विनय करने के योग्य है—

विनय करो तुम श्री जिनवर का जिनको केवल ज्ञान हुआ।
आत्म दृष्टि से जग ज्ञाता का जिनने कर्म विनाश किये ॥९६॥

आचार्यों का विनय करो जो निज पर हित में लीन रहे।
वाणी और लेखनी द्वारा प्रभु वाणी सन्देश कहे ॥९७॥

उपाध्याय और सर्व साधु जो आत्म ज्ञान मे लीन रहे।
मार्ग प्रकाशक निज चर्या से उनका भी सब विनय करे ॥९८॥

प्रश्न—हम किसका विनय करे और किसका विनय न करे ?

उत्तर—निश्चय से तो अपनी शुद्ध आत्मा का विनय करना चाहिये अन्य किसी का नही। क्योंकि अरिहन्त सिद्ध व आचार्य तथा सच्चे साधु का जो भक्तिवश विनय किया जाता है वह राग कारक है, और राग बन्ध का कारण है, लेकिन यदि अरिहन्तादिक मे उनके गुणो के कारण उनका विनय किया जाता है वह ठीक है, क्योकि जो अरिहन्त सिद्ध को एक शुद्ध आत्मा के रूप मे देखता है और उनके बतलाये हुए मार्ग पर चल कर अपनी आत्मा को भी शुद्ध बनाता है उसका मार्ग ठीक है ऐसी स्थिति मे अरिहन्त सिद्ध जिन्होने आत्म दृष्टि से तीन लोक और तीन काल को जाना है उनका उनके गुणो को समझ कर विनय करना योग्य है।

लेकिन अन्ध भक्ति से उनका विनय करना और यह समझना कि भगवान हमको भी तार देगे यह मिथ्यात्व है ऐसी भक्ति से कर्मो का ही बन्ध होता है, और भगवान से धन पुत्रादिक मागना और उनकी भक्ति करना अशुभ कर्म का बन्ध करना ही है।

अत पाचो ही परमेष्ठियो का विनय उनमे स्थित गुणो के कारण ही करना चाहिये अन्य किसी कारण से नही।

जिन वाणी और उसको भिन्न भिन्न विधि से प्रकाश मे लाने वाले विनय के योग्य है—

प्रभु वाणी सन्देश जहां है उस आगम का विनय करो।
चैत्यालय और तीर्थ क्षेत्र को बारम्बार प्रणाम करो ॥६६॥
जो विद्वज्जन प्रभु वाणी को जग हित सबको समझावें।
लिपि वद्ध करें उसको ही उनका भी सब विनय करें ॥१००॥

भगवान की वाणी गणधरो के द्वारा जन साधारण को समझायी जाती है। वह वाणी ही सच्चा आगम कहलाता है। वह आगम मौखिक या लिपिरूप मे जिस तरह भी हो उसका विनय करना चाहिये, क्योकि आगम के स्वाध्याय से आत्मा का हित होता है।

चैत्यालय और तीर्थक्षेत्रो मे भगवान के विम्ब के दर्शन करने को मिलते है। इस पन्चम काल मे भगवान के विम्व मे जो साक्षात् अरिहन्त और सिद्ध को देखता है उनका विनय करता है, उसके निश्चित ही पुण्य वन्ध होता है। और जो साक्षात् अरिहन्त सिद्ध के विम्व मान कर उनके गुणो को अपने आप मे अवतरित करता है उसके कर्मों की निर्जरा भी होती है। अत चैत्यालय और तीर्थ क्षेत्र भी विनय के योग्य है।

जो विद्वान् भगवान की मौखिक या लिपिवद्ध वाणी को सब को समझाते हैं, प्रवचन करते है तथा भगवान की वाणी को जग के हित के लिये लिपि वद्ध करते है वे भी जन हितकारक भावना से विनय के योग्य है।

इस तरह किया हुआ विनय, मिथ्यात्व नही होता बल्कि सम्यक्त्व होता है।

जिनको आत्म ज्ञान नही है वे विनय के योग्य नही हैं—
लेकिन जो जन मिथ्या बोलें आत्म ज्ञान का ध्यान नहीं।
उनका विनय मिथ्यात्व नाम है अत. विनय के योग्य नहीं ॥१०१॥
विषयो के वश भेष वदल लें मन में समता भाव नहीं।
रागी द्वेषी वनकर डोलें विनय वहां मिथ्यात्व सही ॥१०२॥

लेकिन जो जन मिथ्या भाषण करते हैं, क्रोधादिक कषायो मे लीन रहते हैं, आत्म ज्ञान प्राप्ति हित न तो उद्यम करते हैं और न आत्मा मे उनकी रुचि है ऐसे आदमियो का या मुनियो का विनय करना विनय मिथ्यात्व कहलाता है, ऐसे साधु और गृहस्थ दोनो ही विनय के योग्य नही है।

ऐसे जीव विषयो के वश होकर भेष बदलते रहते है। उनमे समता भाव भी नही होता अत कषाय और राग द्वेष युक्त होते है। ऐसे गृहस्थो और मुनियो का विनय मिथ्यात्व ही है।

तत्व के अज्ञानी जिन वाणी मे शका करते है—

जिन वाणी और जिन आगम में जिनके शंका रहती है।
तत्व ज्ञान पूर्ण ना उनके वे सब ही मिथ्यात्वी हैं ॥१०३॥

जिनवाणी तीर्थंकर वाणी को कहते है। तीर्थ करो की दिव्य ध्वनि को सुनकर गणधर अर्थ विचारते है और फिर जन साधारण को समझाते है। श्रुत केवली भी भगवान की दिव्य ध्वनि को ही समझाते है। अत. वर्तमान समय मे जो भी जिन आगम है वह भगवान महावीर की दिव्य ध्वनि का सार बतलाने वाला है। आचार्य भगवान कुदकुद अपनी दिव्य शक्ति के द्वारा विदेह क्षेत्र मे सीमन्धर भगवान के समवशरण मे गये और वहा सात दिन रह कर भगवान से दिव्य ज्ञान प्राप्त किया, उन्होने वापिस भरत क्षेत्र मे आकर समयसार, प्रवचनसार आदि ग्रन्थो की रचना की ये भी साक्षात् जिन आगम ही है। सम्पूर्ण जिन आगम मे चाहे वह षट् खण्डागम हो और चाहे समयसार हो सब मे सात तत्व, नव पदार्थ, पच अस्तिकाय व षट् द्रव्यो का विस्तार से वर्णन किया गया है। इस जिनागम मे तत्व ज्ञान पूर्ण न होने के कारण अथवा श्रद्धान न होने के कारण जिस किसी भी प्राणी के शका रहती है उनमे सशय मिथ्यात्व रहता है अत उनको मिथ्यात्वी कहा गया है। श्रद्धान मे कमी भी ज्ञान की कमी से ही होती है और जिनके तत्व ज्ञान की कमी है वह ही जिनागम मे शका रखतेहै। अत उन्हे मिथ्यात्वी कहा गया है।

तत्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन (तत्वार्थ सूत्र)

इदमेव ईदृशमेव तत्वम् नान्यन चान्यथा।
इति कम्पाय साम्भोवत् सन्मार्गेऽसशयारुचि।
रत्न करड श्रावकाचार

अज्ञान मिथ्यात्व का मूल है—

अज्ञान बड़ा ही अवगुण है तत्व ज्ञान अवरोधक है।
अत तत्व अज्ञानी को मिथ्यात्वी जिनवर कहते हैं ॥१०४॥

अशुद्ध स्वर्ण अग्नि संग पिघले नीली शिखा ताम्र की है।
फिर भी ताम्र नाम नहीं होता कहे शिखा स्वर्ण की है ॥१०५॥

सभी विभाव मोह के कारण, अज्ञानी निज के माने।
असत् बुद्धि से बन्ध जीव का श्री जिनवर ऐसा मानें ॥१०६॥

मधुर आम्र पर अम्ल आम्र का यदि पेबन्द चढाया हो।
फल उसके सब अम्ल ही आवें दोष मधुर का किस विध हो ॥१०७॥

पर अज्ञानी भेद न जाने जड़ को ही दोषी माने।
इसी तरह अज्ञानी प्राणी क्रोधादिक निज के माने ॥१०८॥

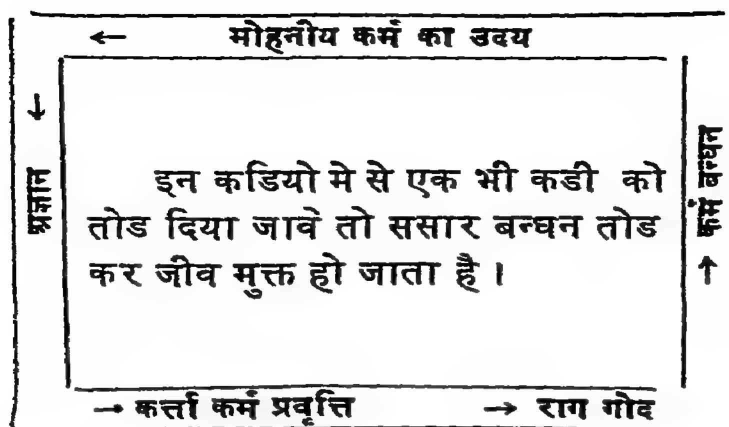
अब अज्ञान मिथ्यात्व का विवेचन करते है।

अज्ञान अर्थात् ज्ञान का अभाव—जहा ज्ञान का अभाव है वहा तो तत्व ज्ञान होने का प्रश्न ही नही उठता। अत तत्व अज्ञानी को जिन प्रभु ने मिथ्यात्वी कहा है।

जिस स्वर्ण मे ताम्र मिला हुआ हो उसको जब अग्नि मे पिघलाया जाता है तो उसमे कुछ नीली कुछ पीली कुछ मिश्रित शिखा निकलती है। नीली शिखा ताम्र के कारण से होती है लेकिन जो स्वर्ण और ताम्र का भेद ज्ञानी नही है वह नीली शिखा को भी स्वर्ण की ही कहता है। इसी प्रकार राग द्वेष मोह व क्रोधादि विभाव मोहनीय कर्म के उदय से होते है लेकिन जो वस्तु तत्व को नहीं जानता वह विभावो को निज कृति मानता है, इस तरह इन विभावो का कर्ता वनने के कारण वह कर्म वन्ध करता है।

उदाहरण के लिये मधुर आम्र पर अम्ल आम्र का पेबन्द चढा दिया जावे तो उस वृक्ष के जो आम लगेगे वे सब खट्टे ही होगे। खट्टे आमो की उत्पत्ति का कारण खट्टे आम का पेवन्द है न कि वह जड जो कि मीठे आम की है। फिर भी अज्ञानी जड और पेबन्द मे भेद न जानने के कारण जड को ही दोपी मानते है।

इसी प्रकार राग द्वेप मोह व क्रोधादिक विभाव स्पष्ट रूप से मोहनीय कर्म के उदय से होते हैं। क्योकि मोह के उदय से या आवरण से अज्ञान, अज्ञान के निमित्त से कर्ता कर्म प्रवृत्ति, कर्ता कर्म प्रवृत्ति के निमित्त से राग द्वेप और राग द्वेप के निमित्त से कर्म वन्ध होता है।



कषायो का वर्णन—अनन्तानुबन्धो कषाय मिथ्यात्वी बनाती है—

क्रोध मान मायाचारी अरु लोभ कषाय चार विध है।
भावों की तरतमता से ये सभी कषाय चार विध है ॥१०९॥

अनन्तानुबन्धी मिथ्यात्व मूल अनन्त संसार का कारण है।
अनन्त भवो तक संस्कार टिकने का यह ही कारण है ॥११०॥

अनन्तानुबन्धी जब तक है रहती मिथ्यात्वी कहलाता है।
मिथ्यात्व कलंक दूर तब ही हो जब इसका क्षय होता है ॥१११॥

अब कर्म बन्ध के द्वितीय कारण कषाय का विवेचन किया जाता है—

कषाय चार तरह की मानी गई है। १—क्रोधकषाय २—मान कषाय ३ माया कषाय और ४—लोभ कषाय । इन चारो कषायो के भी एक एक के चार चार भेद होते है।

१—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ ।
२—अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ ।
३—प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ ।
४—सज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ ।

अनन्तानुबन्धी कषाय से तात्पर्य है कि जो कषाय अनन्तभवो तक सस्कार रूप मे रह सकती है। जो क्रोध मान माया लोभ इन चारो में से एककी भी गाठ बाध कर रखते है, ऐसे जीव जन्म जन्मान्तर तक वैर का त्याग नही करते, मायाचारी नही छोडते, लोभ, मान, को संजोये रखते है ।

अप्रत्याख्यान कषाय के कारण वह जीव छह महिने तक उस कषाय की गाठ रख सकता है। प्रत्याख्यान कषाय के कारण वह पद्रह दिन तक कषाय से प्रभावित रह सकता है। और संज्वलन कषायधारी एक अन्तर्मुहूर्त से ज्यादा कषाय नही रखते।

अप्रत्याख्यान वगैरह कषायो का स्वरूप—

अप्रत्याख्यान के उदय काल में संयम ना हो पाता है।
अणुव्रत पालन नहीं होने मे निमित्त यह बन जाती है ॥११२॥

अप्रत्याख्यान का ग्रन्थि काल षट् मास अवधि रह सकता है।
सम्यग्दर्शन होने पर भी अविरत वह कहलाता है ॥११३॥

प्रत्याख्यान की अवधि पक्ष है अपना असर दिखाती है।
महाव्रत पालन नहीं होने मे निमित्त यह बन जाती है ॥११४॥

संज्वलन है जल रेखा वत् अल्प समय में नशती है।
यथाख्यात चारित्र पालने मे बाधा बन रहती है ॥११५॥

अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ का जब उदय रहता है तब यह जीव सयम का पालन नही कर पाता, अत अहिसा, सत्य, अचौर्य, शीलव्रत व अपरिग्रह का एक देश भी पालन नहीं होता, सम्यग्दर्शन होने पर भी वह चतुर्थ गुण स्थान से आगे नही बढ पाता उसको अविरत सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। जिस कषाय की ग्रन्थि अधिक से अधिक छह माह मे समाप्त हो जाती है, वह कषाय अप्रत्याख्यान कहलाती है।

प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ कषाय के उदय काल मे महाव्रतो का पालन नही होता, अत. वह जीव पन्चम गुणस्थान से आगे नही बढ सकता। अहिसा, सत्य, अचौर्य, शील व्रत, अपरिग्रह इन व्रतो का पूर्ण पालन होने पर ही छठा गुणस्थान होता है। जिस कषाय की ग्रन्थि एक पक्ष से ज्यादा नही रहती वह प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान माया, लोभ है।

सज्वलन कषाय जल रेखावत् है, अत अन्तर्मुहूर्त मे ही नष्ट हो जाती है इसकी अवधि एक अन्तर्मुहूर्त है।

जब तक सज्वलन कषाय व अन्य सभी कषाये नष्ट नही होती तब तक यथाख्यात चारित्र का पालन नही होता। यह स्थिति दशवे गुण

स्थान के अन्त तक रहती है। संज्वलन कषाय की समाप्ति होते ही जीव बारहवे गुण स्थान मे पहुँच जाता है।

कषायो की समाप्ति चारित्र मोहनीय कर्म की समाप्ति है जिसके समाप्त होने पर एक अन्तर्मुहूर्त के बाद केवलज्ञान पैदा हो जाता है। अत- यह चारित्र मोहनीय कर्म ही ज्ञान का सबसे बडा आवरण है।

नो कषाय का वर्णन--

हास्य रति अरु शोक अरति है भय जुगुप्सा नामी हं।
नपुंसक स्त्री पुरुष वेद सब मिलकर नव संख्या मे है ॥११६॥
यह नोकषाय नव संख्या में यह अल्प मलिनता कारक है।
सोलह कषाय नव नोकषाय सब मिलकर पञ्चविंशति है ॥११७॥

हास्य, रति, शोक, अरति, भय, जुगुप्सा, (दूसरे से घृणा करना) पुरुष वेद, स्त्री वेद, नपु सक वेद, इस तरह यह नोकषाय नो प्रकार की होती है। यद्यपि ये भी सब कषाये है। ये भी कर्म रूपी खेत का कर्षण ही करती है और ससार को वढाती है। जिस प्रकार किसान खेत को जोत कर बीज बोता है तो वह खेत खूब सरसब्ज होता है। उसी प्रकार कषाय भो ससार बीज को पल्लवित कर उसको बढाती है।

असयम भी आस्रव का कारण है---

इन्द्रिय अरु प्राणी दो भेद असंयम के बतलाये हैं।
पञ्चेन्द्रिय मन वश मे करलो संयम गुण अति गाये हैं ॥११८॥
रूप गन्ध और वाणी से जो मोह जाल मे फंसता है।
स्पर्शन में सुख दुख माने रसास्वाद गृध्नता है ॥११६॥
वह असंयमी विषयो का है मन भी उसका चञ्चल है।
इन्द्रिय विषयो की उलझन से जग मे उसकी चल चल है ॥१२०॥

कर्मो के आस्रव का तृतीय कारण असयम माना है। इन्द्रिय असयम और प्राणि असयम के भेद से वह दो प्रकार का है। पञ्चेन्द्रिय और मन के भेद से इन्द्रिय असयम छह प्रकार का है। त्रस तथा पञ्च स्थावरो के भेद से प्राणी असयम भी छह प्रकार का है।

असयम, जीव के दूषित भावो से ही होता है वह अपने स्वार्थो के कारण जीवो की हिसा करते है और हिसानन्दी बन कर कर्मो का

तीव्र बन्ध करते है। काम वासना से अन्धे मनुष्य स्त्रियो का रूप देख कर मोहित होते है और शील व्रत का भग कर समाज मे अव्यवस्था फैलाते है। मधुर गान व वाद्य सुनकर आकर्षित होना, इत्र व पुष्प की गन्ध से आकर्षित होना ये सभी कर्म बन्ध के कारण है, भोजन करते समय मधुर अम्लादि रसो मे गृध्रता रखना, कोमल स्पश मे सुख और खर स्पर्श मे दुख मानना यह सब इन्द्रिय असयम है।

आत्मज्ञानी मन और इन्द्रियो को वश मे रखता है।—
आत्मज्ञानी ही आस्रव से बचता है।

आत्मज्ञान ही एक शस्त्र है जो मन वश मे करता है।
इन्द्रिय विषयो मे ना फंसकर निज स्वरूप में बसता है ॥१२१॥

निज आतम मे श्रद्धा जिसकी निज आत्मा अनुभूति जिसे।
निज आत्मा मे स्थित जो हो श्रेष्ठ संयमी कहें उसे ॥१२२॥

निजात्म स्थिति ही मानव को सद्‌चारित्री बना सके।
निजात्मा का वासी मानव सभी विकृति भगा सके ॥१२३॥

निजात्म स्थिति जब हो जाती तब कर्मों का क्षय होता।
निश्चय से वह सम्यक् दृष्टि मोक्ष महल को है पाता ॥१२४॥

निजात्म स्थिति से आस्रव भी बन्ध नहीं कर पाता है।
निजात्म स्थिति शस्त्र वह जो संतति कर्म मिटाता है ॥१२५॥

पाच इन्द्रिया और मन को वश मे करने का उपाय बतलाते है—

जब इस जीव को स्व और पर का ज्ञान हो जाता है, वह अपने ज्ञाता दृष्टा स्वभाव को जानकर ज्ञाता दृष्टा बन जाता है, वह देह मन वाणी और इन्द्रियो को भी पर मानता है तथा सकल्प-विकल्पो से दूर रहता है, वह स्पर्शन, रसना, घ्राण, श्रोत्र और नासा इन्द्रियो के विषयो का उपयोग अनासक्त भाव से करता है। वह समझता है कि जो विषयों के उपयोग के भाव उत्पन्न होते है वे सभी कर्मोदय के निमित्त से है। तथा जिस समय जिस विधि से इस पौद्‌गलिक शरीर के साथ जिन भोजन पान वस्त्र आदि का जिस विधि से सयोग होना है वह हो रहा है, अत वह ऐन्द्रियिक विपय और ऐन्द्रियिक विपय सम्बन्धी भाव दोनो को ही पर मानता है तथा ज्ञाता दृष्टा बन कर अपने आत्मा मे स्थित रहता है। प्रतिक्षण आत्म स्थिति का ही प्रयत्न करता है।

स्व और पर का भेद ज्ञान होने के बाद जिसकी निज आत्मा मे पूर्ण श्रद्धा होगई हो तथा आत्म श्रद्धा के साथ ही आत्म परिचय भी हो गया हो उसे निज अनुभूति हो जाती है। निज अनुभूति कर जो निज आत्म मे ही स्थित हो जाता है उसको श्रेष्ठ सयमी कहते है। निज आत्म स्थिति से सद् चारित्र स्वत पालन होता है तथा राग, द्वेष मोहादिक विकृतियो का वह केवल ज्ञाता बन कर रहता है । ऐसी स्थिति मे मिथ्यात्व तो उससे कोसो दूर भाग जाता है और वह ज्ञानी पुरुष अति शीघ्र मोक्ष महल का वासी बन जाता है अर्थात् सिद्ध हो जाता है । निजात्म स्थिति होने के बाद कोई भी बन्धन कारक कारण नही बन सकता अत आत्म स्थिति ही वह शस्त्र है जिससे कर्म सन्तति भग होकर निर्वाण प्राप्त होता है ।

प्राणी असयम—

त्रस स्थावर की संकल्पी हिंसा जीव असंयम है।
द्विइन्द्रियादिक त्रस होते है स्थावर पांच तरह के हैं ॥१२६॥
त्रस स्थावर कहने से कोई भेद नही हो जाता है।
आत्मा सब में एक तरह का ज्ञानी यह समझता है ॥१२७॥
हिंसा का संकल्पी बनना चाहे वह एकेन्द्रिय हैं।
है असंयम यह वह जो आत्म मलिनता कारक है ॥१२८॥

प्राणी असयम का विवेचन करते है—

पाच तरह के स्थावर होते है—पृथ्वी कायिक, जल कायिक, वायु कायिक, अग्नि कायिक व वनस्पति कायिक। त्रस जीव भी पाच तरह के होते है। दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पन्चेन्द्रिय सज्ञी और पन्चेन्द्रिय असज्ञी ।

जीव चाहे एकेन्द्रिय हो और चाहे पन्चेन्द्रिय सज्ञी हो आत्मा की दृष्टि से दोनो मे भेद नही है। अत. दोनो की ही हिसा हेय है तथा सकल्प करके हिसा करना कर्म बन्ध का ही कारण है। अन ज्ञानी एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय और पन्चेन्द्रिय की दृष्टि से न देख कर आत्म दृष्टि से सब को समान मानता है । जिस प्रकार तीव्रतम नशा करने वाले के मुंह पर कुत्ते भी मूत्र त्याग करे तो भी ध्यान नही आता, तथा एक अल्प नशा करने वाला होता है जिसे कुछ कुछ सब तरह का ध्यान रहता है ।

दोनो की मानव संज्ञा मे भेद नही है। उसी तरह एकेन्द्रिय तीव्र मोह से आच्छादित होने से तीव्र अज्ञानी है और पन्चेन्द्रिय सज्ञी कम मोह से आच्छादित होने से कम अज्ञानी है लेकिन दोनो की आत्मा मे कोई भेद नही है।

जो जितना अधिक मोह और माया मे लिप्त है वह ऐसी गति प्राप्त करता है जहा हिताहित का ध्यान नही रहता और दु ख की मात्रा अत्यधिक होती है।

अत हे ज्ञानी प्राणी ! तुम कभी भी किसी भी तरह के जीव की हिसा का सकल्प मत करो। कम से कम आरम्भ परिग्रह करते हुए सावधानी पूर्वक सम्पूर्ण क्रियाये करो।

योगो का स्वरूप—

मन, वच, काय यह तीन योग है भेद पन्चदश इनके है।
इनको ज्ञाता सम्यक् जाने, जान नियन्त्रण करते हैं ॥१२६॥

योग का लक्षण गोम्मटसार से—

पुद्गल विपाकी शरीर नाम कर्म के उदय से मन, वचन, काय से युक्त जीव की जो कर्मो के ग्रहण करने मे कारण भूत शक्ति है उसको योग कहते है।

योग तीन प्रकार के होते है। मनोयोग, वचन योग, और काय योग।

आत्मा की अनन्त शक्तियो मे एक योग शक्ति भी है, उसके दो भेद है एक भाव योग और दूसरा द्रव्य योग। पुद्गल विपाकी आगोपाग नाम कर्म और शरीर नाम कर्म के उदय से मन, वचन, काय पर्याप्ति जिसकी पूर्ण हो चुकी है और जो मनो वाक् काय वर्गणा का अवलम्बन रखता है ऐसे ससारी जीव की जो समस्त प्रदेशो मे रहने वाली कर्मो के ग्रहण करने मे कारणभूत शक्ति है उसको भाव योग कहते है और इस ही प्रकार के जीवो के प्रदेशो का जो परिस्पन्दन होता है उसको द्रव्य योग कहते हैं। यहा कर्म शब्द से कर्म और नोकर्म दोनो को ग्रहण करने वाला योग होता है ऐसा समझना चाहिये।

मन और वचन योग सत्य असत्य उभय और अनुभय भेद से चार प्रकार के होते है।

सम्यग्ज्ञान के विषयभूत पदार्थ को सत्य कहते है जैसे यह जल है। मिथ्या ज्ञान के विषयभूत पदार्थ को असत्य कहते है जैसे मरीचिका को कहना कि यह जल है। दोनो के विषयभूत पदार्थ को उभय कहते है। जैसे कमण्डलु को घट कहना-वह घट नही है फिर भी घट का काम देता है। जहा सत्य का कुछ भी निर्णय न हो उसको न सत्य और न असत्य कह सकते है। वह अनुभय है।

काययोग--औदारिक, औदारिक मिश्र, वैक्रियिक, वैक्रियिक मिश्र, आहारक, आहारक मिश्र और कार्माण--

औदारिक शरीर--मनुष्य और तिर्यन्चो का शरीर वैक्रियिक आदि शरीरो की अपेक्षा स्थूल होता है इसको उदार या उराल कहते है और इसके द्वारा होने वाला शरीर औदारिक शरीर कहलाता है।

वैक्रियिक शरीर--नाना प्रकार के गुण और ऋद्धियो से युक्त देव तथा नारकियो के शरीर को वैक्रियिक शरीर कहते है।

औदारिक मिश्र--औदारिक शरीर जब तक पूर्ण नही हो जाता तब तक वह औदारिक मिश्र शरीर होता है।

वैक्रियिक मिश्र--जब तक वैक्रियिक शरीर पूर्ण नही होता तब तक इसको वैक्रियिक मिश्र कहते है।

आहारक--आहारक ऋद्धि वाले छट्टे गुणस्थानवर्ती तीर्थकरो केवली व श्रुतकेवली से शका दूर करने हेतु अथवा वन्दना हेतु एक हस्त प्रमाण चन्द्रकान्त मणी के समान सफेद रसादिक धातु और सहनना से रहित शुभ नाम कर्म के उदय से शुभ अवयव शिर मे से निकलता है।

आहारक मिश्र--

जब तक यह शरीर पर्याप्त नही होता तब तक आहारक मिश्र कहलाता है।

आगम ज्ञान सहारा तेरा विधि तत्वो का चिन्तन है।
तत्वो का चिन्तन कर प्रतिक्षण मक्खन मन्थन का फल है॥
भावागम है स्वय आतमा ज्ञान नाम आत्मा का है।
आत्म तत्व को जो नर पावे वह स्वयभ जग का है॥

कार्माण—ज्ञानावरणादिक अष्ट कर्मो के समूह को अथवा कार्माण शरीर नाम कर्म के उदय से होने वाली काय को कार्माण काय कहते है।

आस्रव आत्मा के स्वभाव से विपरीत है—

इस विधि कुल सत्तावन प्रत्यय आस्रव के कारण बनते।
शुद्ध आत्म से भिन्न जान कर ज्ञानी इनसे है बचते ॥१३०॥

स्व स्वभाव विपरीत है आस्रव अपवित्र और दुख के कारण।
आत्म द्रव्य तो अति पवित्र है, है निज के सुख का कारण ॥१३१॥

इस प्रकार जिनागम मे आस्रव के सत्तावन भेद बतलाये है। लेकिन सम्पूर्ण आस्रव और आस्रव के कारण शुद्ध आत्मा से भिन्न है। समयसार प्रकाश मे लिखा है—

मै हू आत्मा ज्ञान स्वरूपी आस्रव मुझ से भिन्न है।
इस भेद को जो नही जाने क्रोधाधिक मे लीन है॥

क्रोधाधिक मे लीन पुरुष के कर्मो का सचय होवे।
कर्म बन्ध फिर इससे होता निश्चय से सर्वज्ञ कहे॥

इससे स्पष्ट होता है कि आस्रव आत्मा से भिन्न है। भिन्न होने मे आचार्य प्रभु ने लिखा है कि आत्मा ज्ञान स्वरूप है अत पवित्र है आत्मा चेतन स्वरूप तथा उपयोग लक्षण वाला है। आस्रव दुख के कारण है अत. अपवित्र है। आस्रव अज्ञान के कारण है तथा न चेतन है और न उपयोग लक्षण युक्त है अत आस्रव और आत्मा मे रात और दिन जितना भेद है।

कर्मोदय से जो भाव पैदा होते है वो अज्ञानी उनको निज कृति मानता है अत कर्म बन्ध होता है—

कर्मोदय भावों के जो अज्ञानी स्वामी बनते हैं।
स्वामी बन कर रागी बनते उससे बन्धन होते हैं ॥१३२॥

जन्म काल से मृत्यु काल तक कर्मोदय से सुख दुःख है।
अज्ञानी उन कर्म फलो मे निज कर्तृत्व समझते हैं ॥१३३॥

कर्त्ता भाव राग का कारण राग बन्ध को करे सदा।
ज्ञाता दृष्टा जो बन रहते वे बन्धन से बचें सदा ॥१३४॥

प्रतिक्षण शुभ या अशुभ कर्म का उदय होता रहता है, कर्मोदय के निमित्त से सुख या दुख परिणाम वाले भाव उत्पन्न होते है । उन भावो को और भावो के परिणामो को ज्ञानी कर्मोदय जनित मान कर उनको पर मानता है उनका कर्त्ता या स्वामी नही बनता वह राग, द्वेप, मोहादिक से दूर रहने के कारण कर्म बन्ध मे नही फसता । लेकिन अज्ञानी जीव कर्मोदय जनित भावो के और उनके परिणामो के कर्त्ता और स्वामी बन जाते है, जिससे इष्ट अनिष्ट कल्पना द्वारा राग, द्वेष पैदा होते है जिससे वे कर्म बन्धन मे फस जाते है ।

अत हे भव्य जीवो ज्ञानी वनो और अपने ज्ञाता दृष्टा स्वभाव को जान कर कर्मोदय जनित भावो और भावो के फलो के केवल ज्ञाता दृष्टा बन कर रहो ।

पूर्व वद्ध कर्म भी अचेतन होने के कारण चेतन आत्मा से भिन्न है कर्मोदय से होने वाले सुख दुख सुनिश्चित है—

पूर्व कर्म जो ज्ञानी के है मिट्टी ढेले सम सारे ।
पुद्गल है वे और पौद्गलिक कार्माण से बंधे हुए ॥१३५॥

आत्मा चेतन वे पुद्गल है पुद्गल चेतन भिन्न सदा ।
अतः भाव जो पूर्व बद्ध से वे भी होते भिन्न सदा ॥१३६॥

जीव के जो पूर्व बद्ध कर्म है उनका जीव के साथ वन्ध नही है वे कार्माण शरीर से बधे हुए है । ऐसा ज्ञान रखने वाले ज्ञानी के पूर्व बद्ध कर्म मिट्टी के ढेले के समान है । कर्म पुद्गल है अत पौद्गलिक कार्माण शरीर से ही उनका बन्धन है जीव के साथ नही ।

आत्मा चेतन है कर्म पुद्गल है । पुद्गल चेतन से सदा भिन्न है अत पूर्व बद्ध कर्म के उदय से जो भाव बनते है वे आत्मा से भिन्न है । आत्मा का परिणमन ज्ञान रूप ही है पुद्गल रूप नही है ।

कारण और कार्य, क्रमवद्ध पर्याय के अनुसार पूर्व निश्चित होने से तू उनका कर्त्ता नही है—

कारण बिन नही कार्य है बनते भाव निमित्त है कार्यो के ।
कार्य सुनिश्चित जब जग मे है भाव सुनिश्चित स्वत वने ॥१३७॥

उदित कर्म वश भाव बनत हैं भाव नही निज मान कदा ।
भाव सुनिश्चत जब तेरे है कर्त्ता भाव तू छोड़ सदा ॥१३८॥

कर्म सन्तति चेन भंग हो कर्त्ता भाव हटाने से।
संसार भ्रमण का भंग जीव का, तत्व ज्ञान यह पाने से ॥१३९॥

कार्य के होने मे उपादान कारण और निमित्त कारण होते है। निमित्त कारण आत्मा के भाव है। ससार के सभी कार्य सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान मे जिस प्रकार और जिस विधि से जिस क्षेत्र और काल मे होना निश्चित पाया गया है वह कार्य उसी विधि से उसी क्षेत्र और काल मे अवश्यमेव होगा। अत जब कार्य सुनिश्चित है तो भाव भी सुनिश्चित ही है। भाव कर्मोदय के निमित्त से बनते है अत भावो का कर्ता बनना छोड दे। कर्त्ता भाव हटाने से राग उत्पन्न नही होता और इस तरह से कर्त्ता भाव के हटाने से कर्म सन्तति भग हो जाती है। कर्म सन्तति भग होने से ससार का भ्रमण मिट जाता है, अत इस ज्ञान को प्राप्त करो।

आत्मा केवल ज्ञान भाव का स्वामी है—

ज्ञान भाव है निश्चित तेरे ज्ञान भाव का तू स्वामी।
अन्य भाव हो किस विध तेरे जिनका तू ना परिणामि ॥१४०॥
प्रकाश परिणमन सूर्य देव का तेज परिणमन भी उसका।
जिस जग को यह सूर्य प्रकाशे ना कर्त्ता वह है उसका ॥१४१॥

हे भव्य जीव तू ज्ञान मय है अत तेरा परिणमन भी ज्ञान ही है और जो तेरा परिणमन है तू उसका कर्त्ता व स्वामी है। जो राग, द्वेष मोहादि भाव है, वे सब अज्ञान मय है, तेरा परिणमन ज्ञान है अज्ञान नही। सूर्य का परिणमन प्रकाश है अन्धकार नही है, अत ज्ञान भाव के अलावा जो भाव बनते है वे सब कर्मोदय जनित है अत तू उनका परिणमन कर्त्ता नही है, अत उन भावो का तू स्वामी भी नही है। अत जिस प्रकार तेज और प्रकाश के अलावा शीत और अन्धकार सूर्य परिणमन नही हो सकते उसी तरह अज्ञान अवस्था के परिणमन तेरे नही हो सकते।

तू अज्ञान मे पर को निज मानता है। तू निज वैभव का अज्ञानी तुझ को ज्ञान नही है—

प्राणी तू अज्ञानी ऐसा जिसको जाने निज माने।
ज्ञेय तुम्हारा तीन लोक है किस विधि उसको निज माने ॥१४२॥

पर मे जो निज बुद्धि है तेरी तेरा जग मे बन्ध करे।
जब तक बुद्धि शुद्ध बने नही तू मुक्ति को नही वरे ॥१४३॥
तू केवल है निज का स्वामी वैभव तेरा अपरम्पार।
निज वैभव को यदि तू जाने तेरा होवे बेडा पार ॥१४४॥

हे ससार मे परिभ्रमण करने वाले जीव तू अज्ञानी है तू अज्ञान के कारण से अपने ज्ञेय पदार्थो का स्वामी बन जाता है। हे भव्य जीव यह तीन लोक ही तुम्हारा ज्ञेय है तू उसको निज किस प्रकार मानता है? अनादि काल से तू इस ससार मे भ्रमण कर रहा है' जो तेरे गुण है जिनके कारण तेरा ज्ञायक स्वभाव है वह तेरे है किसी भी द्रव्य या पदार्थ के स्वभाव और गुण ही उसमे नित्य रुप से रहते है क्योकि वे ही उसके निज है। तेरे ज्ञान और दर्शन गुण ही तेरे है, तू जिन पदार्थो को देखता या जानता है वे पदार्थ तेरे नही हो सकते क्योकि वे न तो तेरे प्रदेश हैं और न स्वभाव और गुणानुरूप है। तेरे असख्येय प्रदेशो मे एक एक प्रदेश तेरा है लेकिन अन्य कोई भी वस्तु तेरी नही है। अत पर वस्तुओ मे जो तेरी निज बुद्धि है वह तेरा अज्ञान है मिथ्यात्व है। जब तक तू स्व और पर का भेद नही जानेगा तेरी बुद्धि शुद्ध नही होगी और जब तक आत्मा शुद्ध नही होगा तब तक तू कर्म बन्धन से मुक्त नही हो सकता। तू केवल निज का ही स्वामी है, तेरा वैभव अपरम्पार है। तू अनन्त चतुष्टय का स्वामी है, तू अपने वैभव को पहचान जिससे तेरा बेडा पार हो।

सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र पूर्ण रूपता प्रदान करते है।—

दर्शन ज्ञान चारित्र तीन यह जब तक पूर्ण नहीं होवे।
पूर्ण शुद्धता ना होने से पूर्ण रूप नही आवे ॥१४५॥
इन तीनो के पूर्ण हुए बिन बन्ध जीव का हुआ करे।
अत ज्ञान से मत हट ज्ञानी पूर्ण रूपता को पा रे ॥१४६॥

मै आत्मा हू, मेरे गुण ज्ञान और दर्शन है मेरे गुणो के अनुरूप मेरा ज्ञाता दृष्टा स्वभाव है, मै अरस, अरूपी, अस्पर्शी, गन्ध हीन एव अशब्द हू, मै असख्येय प्रदेशी हू। निगोद अवस्था मे सूक्ष्म से सूक्ष्म शरीर धारण किया, नारकी बन कर बहूरूपिया शरीर धारण किया तिर्यन्च बन कर अनेक योजनो का भी शरीर धारण किया। देव बन कर अनेक ऋद्धिधारी बना। मनुष्य शरीर मे भी कभी स्त्री कभी पुरुष कभी

नपुसक कभी ठिगना कभी लम्बा कभी बौना आदि रूप प्राप्त किये। एकेन्द्रिय बन कर कभी पर्वत बन कर विशाल शरीर धारण किया कभी वायु कायिक, कभी अग्नि कायिक और कभी वनस्पति कायिक व कभी जल कायिक शरीर धारण किये, लेकिन मेरे असख्येय प्रदेशो मे न तो एक भी प्रदेश कम हुआ और न बढा। मेरे गुणो मे भी न तो कोई गुण कम हुआ और न बढा मेरे स्वभाव मे कभी कोई परिवर्तन नही हुआ। राग, द्वेष, मोह, क्रोधादिक विभाव जो पर के निमित्त से पैदा हुए उनसे मेरा नित्य स्वभाव हमेशा ही पृथक् रहा। जिस प्रकार अग्नि के सयोग से जल के शीतल स्वभाव के लिये विपरीतता व्यवहार मे कहने मे आती है परन्तु अग्नि के पृथक् होते ही जल के स्वभाव मे पुन वह ही स्वभाव देखने को मिलता है अर्थात् जल मे पर के निमित्त से विभाव उत्पन्न हुआ लेकिन जल और अग्नि को पृथक्-पृथक् देखने पर, जल ने अपने शीतल स्वभाव को कभी नही छोडा ऐसा देखने मे आता है, इसी प्रकार मोह के निमित्त से आत्मा मे राग द्वेषादिक विभाव देखने मे आते है, पर विभावो को पृथक् रूप मे देखने पर आत्मा का ज्ञाता दृष्टा स्वभाव ही देखने मे आता है, अत मोह के हट जाने पर आत्मा ज्ञान और दर्शनमय एव ज्ञाता दृष्टा अनन्त चतुष्टय के वैभव से युक्त ही है।

इस प्रकार स्व और पर का भेद जानकर अपने अनन्त चतुष्टय वैभव को जानकर अपने ज्ञाता दृष्टा स्वभाव मे पूर्ण श्रद्धा कर जो अपने मे ही स्थित हो जाता है वह अपनी पूर्ण रूपता को प्राप्त कर लेता है।

अत हे भव्य जीव सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चरित्र की पूर्णता से ही तू कर्मो के बन्धन से बच सकता है।

आत्म ज्ञानी के द्रव्यास्रव और भावास्रव का अभाव हो जाता है—

राग, द्वेष अरु मोह भाव से ही बन्धन जग मे होवे।
ज्ञानी के सद्भाव न इनका अतः बन्ध किस विधि होवे ॥१४७॥

आत्मोन्मुखता जब बढ़ती है आस्रव तब कम हो पाता है।
आस्रव भावो के हटने से आत्म ज्ञान हो जाता है ॥१४८॥

इस विधि ज्ञानी के अभाव भावास्रव का हो जाता है।
द्रव्यास्रव तो स्व स्वभाव से भिन्न सदा ही रहता है ॥१४९॥

राग द्वेष और मोहादिक भाव अज्ञान के निमित्त से होते है, अज्ञान से ही यह जीव निज को पर और पर को निज मानता है। अत ज्ञानी मे इन विकृतियो का अभाव रहता है, अत उसके कर्मो का बन्ध नही होता। जब परोन्मुखता हट कर आत्मोन्मुखता बढती है तब आस्रव कम हो जाता है। आस्रव कारक भावो के हटने पर आत्म ज्ञान हो जाता है अर्थात् यह जीव स्व को पहचान कर द्वेषादिक विकृतियो को अपने ज्ञान भाव से रोक देता है।

इस प्रकार ज्ञानी के भावास्रव का अभाव हो जाता है। द्रव्यास्रव तो आत्म स्वभाव से सदा ही भिन्न है।

इति आत्मानुशीलनम् ग्रन्थ का आस्रव अधिकार समाप्त हुआ।



यह बडा आश्चर्य कि कोई निज को ही न पहचाने।
होगा नशे मे वह या होगा उन्मादी जो न जाने ।।१।।
नशा हो किस विधि दूर चिकित्सा उन्मादी की कैसे हो।
जो जाने यह भेद वह ही सफल चिकित्सक इनका हो ।।२।।
मोह नशे मे ससारी है नही चिकित्सक है कोई।
स्वय चिकित्सक बने स्वय का कर्म कटे उसके तब ही ।।३।।
भेद स्व पर का जो जाने अरु मै ज्ञायक हूँ पहचाने।
पर उपकारी है ना निज का, पर को निज से भिन्न गिने ।।४।।
जब पर मे आसक्ति होवे निज पर दृष्टि नही रही।
स्वय स्वय को ही न देखे वह खोवे निज वैभव ही ।।५।।
काल अनन्त व्यतीत हुआ है पर की सगति बनी रही।
अत ज्ञान निज होने पर भी भ्रम की दृष्टि बनी रही ।।६।।
जब भ्रम है विश्वास नही है सम्यग्दृष्टि नही रही।
अत अटल विश्वास जमावो ध्यान लगाओ निज काही ।।७।।
आत्म स्थिति अविचल जब हो तभी चिकित्सा हो स्व की।
अत यही अभ्यास जमावो तभी निवृत्ति कर्मो की ।।८।।



संवर अधिकार

कर्मो का आना रुक जावे संवर वह कहलाता है।
संवर करना सीखो ज्ञानी कर्म चक्र हट जाता है ॥१५०॥

परमार्थाश्रित जब तक ना तू मुक्ति मार्ग तेरा अतिदूर।
परमार्थाश्रित जो जन बनते कर्म चक्र तोडें वे शूर ॥१५१॥

अब सवर का वर्णन किया जाता है। कर्मो के आने को आस्त्रव और रुकने को सवर कहा जाता है। कारण के अभाव मे कार्य नही, अत जिन कारणो से आस्त्रव होता है उनको हटाने से ही सवर हो सकता है। अत· सवर की विधि की सूक्ष्मातिसूक्ष्म जानकारी आवश्यक है।

पूर्व मे बतलाया जा चुका है कि ससार के सभी कार्य स्वचालित है पूर्व निश्चित है। मनुष्य के जो भाव वनते है वे कार्य के होने मे निमित्त कारण है। जिस तरह कार्य का होना सुनिश्चित है उसी प्रकार निमित्त कारण भी सुनिश्चित है। मनुष्य के भाव पूर्व वद्ध कर्म के उदय से वनते है अत· न तो यह जीव भावो का कर्ता और न कार्यो का, अत हे जीव तू अज्ञानी वन कर किस बात का अहकार करता है जब न तो तू भावो का और न कार्यो का कर्ता है फिर अहकार करना केवल मिथ्यात्व है। तू स्वय ज्ञाता दृष्टा है अर्थात् कर्ता नही है अत इस कर्तृत्व के अभिमान को छोड क्योकि तेरा अभिमान मिथ्या है।

हे जीव परमार्थाश्रित वन, परमार्थाश्रित विना बने तेरा मुक्ति मार्ग अति दूर है। जो परमार्थाश्रित वन जाते है वे यतीश्वर ही कर्म चक्र को तोड कर सिद्ध पदवी को प्राप्त करते है।

कर्त्तव्य भाव से जो कार्य होते हे उनका भी कर्त्ता आत्मा नही है स्वचालित संसार में एक घटना दूसरी घटना की निमित्त वनती है इस प्रकार असख्य घटनाये घटती रहती है।

तत्वाश्रव का भेद वताया सत्य तत्व को समझाया।
कर्त्ता कर्म भाव जो रक्खे कर्म उसी ने बुलवाया ॥१५२॥

ओ अज्ञानी ओ भव्य प्राणी समझ समझ इहलौकिक धर्म ।
कार्य जगत् के सभी स्वचालित कौन है कर्त्ता कौन है कर्म ॥१५३॥
सर्वज्ञ देव के ज्ञान मे झलका जो कुछ जिस विधि है कर्म ।
उसी विधि से वह होवेगा तज दे कहना मेरा कर्म ॥१५४॥
देश काल और भाव निमित्त से द्रव्य परिणमन होता है ।
कार्य जो होता वह है निश्चित क्यो विकल्प तू करता है ॥१५५॥
इक घटना का उदय है होता उससे लोक सभी सम्बद्ध ।
जिद थी थोडी सी कौरव की जिससे रचा गया महा युद्ध ॥१५६॥
चारण ऋद्धि धारी मुनियों ने एक सिंह सम्बोधा था ।
सम्बोधन था निमित्त कारण वह बना तीर्थंकर था ॥१५७॥
तीर्थंकर की दिव्य ध्वनि से जग सारा उपकृत होता ।
इक घटना का फल असंख्य है फल वह सब जग को मिलता ॥१५८॥
अर्जुन ने सम्बोधन पाया महा भारत मे बना निमित्त ।
कर्त्ता भाव नही थे उसके काट दिये सब कर्म निरुद्ध ॥१५९॥

सवर तत्व को सूक्ष्म रीति से जानने हेतु आस्रव तत्व को जानना आवश्यक है। आत्मा ज्ञान व दर्शन मय होने से केवल ज्ञाता दृष्टा है तथा ज्ञान रूप परिणमन का कर्त्ता है। ज्ञान भाव को छोड कर जितने भी भाव है वे आत्मा के भाव नही है क्योकि आत्मा के स्वभाव व गुणो से विपरीत है, अत जो अज्ञान के निमित्त से स्व स्वभाव व गुणो के विपरीत पर पदार्थ परिणमन का निज को कर्त्ता मानता है वह पर मे राग बुद्धि के कारण कर्मो से बन्ध जाता है। पर मे राग बुद्धि ही बन्धन कारी है जो पर का कर्त्ता वा स्वामी बनने से उत्पन्न होती है।

ओ अज्ञानी भव्य प्राणी तू इस लोक के स्वभाव को जान यहा प्रत्येक द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव के अनुसार परिणमन करता रहता है जिसके फल स्वरूप ससार के कार्य होते रहते हैं, कार्य सभी सुनिश्चित है। अत किसी पर परिणमन का, कोई पर कर्त्ता नही बन सकता।

सर्वज्ञ भगवान ने तीन लोक और तीन काल के सम्पूर्ण पदार्थो और सम्पूर्ण पर्यायो को देखा है और जाना है, अत जिस विधि से जिस निमित्त की उपस्थिति मे जो कार्य जिस समय और स्थान पर होना है वह होगा अत हे प्राणी तू ज्ञानी बन कर अपने ज्ञाता दृष्टा स्वभाव को जान और कर्त्ता कर्म की मिथ्या कल्पना को छोड।

प्रत्येक घटना का स्वकाल मे उदय होता है, प्रत्येक घटना से यह तीन लोक सम्बद्ध है। कौरवो ने पाण्डवो को जिद मे आकर पाच गाव भी देने से इन्कार कर दिया। जिसके फल स्वरूप महाभारत युद्ध हुआ उससे सारा भरत क्षेत्र प्रभावित हुआ, इसी प्रकार प्रत्येक घटना के असंख्य फल होते हैं।

चारण ऋद्धि धारी मुनियो ने भगवान महावीर के जीव को दश भव पहले जब वह शेर की पर्याय मैं था तब सम्बोधन देकर उसको स्व पर का ज्ञान कराया। मुनियो का सम्बोधन केवल निमित्त था महावीर के जीव को स्व योग्यता के कारण सम्यग्दर्शन हुआ और अपनी पर्यायें पूरी करता हुआ तीर्थकर बना जिस घटना के फल स्वरूप सारा भरत क्षेत्र उपकृत हुआ।

अत. हे जीव तू अर्जुन की तरह रह जिसने महाभारत जैसा युद्ध लड़कर भी अपने आपको कर्त्ता नही माना और कर्म चक्र का भेदन करने मे सफल हुआ।

अत जो कार्य होते हैं उनका ज्ञायक दर्शक बन कर रहने वाला कर्मो का सवर कर देता है—

कर्त्ता कर्म कहानी का ज्ञाता जब तू बन जाता है।
ना मैं कर्त्ता ना भोक्ता हूँ यह निश्चय कर लेता है ॥१६०॥
राग न उपजे किसी वस्तु में संवर तब कर पाता है।
जग कार्यों निज भावों का जब ज्ञाता दृष्टा रहता है ॥१६१॥
ऐसा ज्ञानी मोह ना करता निर्मम वह कहलाता है।
तत्व ज्ञान जो निर्मम बनता सम्यग्दृष्टि होता है ॥१६२॥

जब तू कर्त्ता कर्म के रहस्य को जान लेता है और यह समझ लेता है कि न तो मैं पर के कार्यो का कर्त्ता हूँ और न भोक्ता हूँ। यह निश्चय कर लेने से राग, द्वेषमय बुद्धि नही बनती अतः कर्मो का नवीन बन्धन होने के फल स्वरूप संवर हो जाता है, क्योकि निज भावों और जगत् के कार्यो का तू केवल ज्ञाताद्दृष्टा बन कर रहता है। इस प्रकार तू ज्ञानी बन कर पर वस्तुओ मे मोह भाव, ममत्व भाव छोड़ देता है। और तत्व ज्ञान पूर्वक जो मोह भाव छोड कर निर्मम बनता है वह सम्यग्दृष्टि कहलाता है।

अत —

जगत् वस्तु से निर्मम वन कर आत्म तत्व जो ध्याता है।
आत्म स्थिति के हो जाने से आत्म तत्व वह पाता है ॥१६३॥
आत्म स्थिति से कर्मो का आना निश्चित रुक जाता है।
कर्मो के रुक जाने से नोकर्म रोध हो जाता है ॥१६४॥
कर्म और नोकर्म रोक संसार रोध कर पाता है।
संसार रोध हो जाने पर यह जीव मुक्ति को पाता है ॥१६५॥

जगत् के सम्पूर्ण पदार्थो से निर्मम बन कर जो निज आत्मा को निज आत्मा से ध्याता है अर्थात् आत्मा मे ही स्थित रहता है वह निज शुद्ध आत्मा को प्राप्त कर लेता है अर्थात् स्वय शुद्ध हो जाता है।

आत्म स्थिति ही वह उपाय है जिससे कर्मो का आना रुक जाता है अर्थात् नवीन वन्ध होना रुक जाता है। नवीन बन्ध के रुकने का नाम ही सवर है।

कर्मो के रुक जाने से नोकर्म भी रुक जाते है और नोकर्म और कर्म के रुक जाने से ससार मे रुकने की स्थिति समाप्त हो जाती है। वह जीव, वद्ध कर्म जव तक पूर्ण रूप से नही खिरते तव तक ही ससार मे रहता है, क्योकि नवीन कर्मो का आना रुक जाता है।

अत कर्मो का सवर होना मोक्ष जाने की क्रिया मे सर्वश्रेष्ठ कार्य है।

प्रश्न—आत्म स्थिति का सही उपाय क्या है? तथा आत्म स्थिति हो गई है यह कैसे जाना जा सकता है?

उत्तर स्व और पर का ज्ञान होना ही आत्म स्थिति का सही उपाय है, जब यह जीव अपने ज्ञाता दृष्टा स्वभाव व ज्ञान दर्शन गुणो को जान लेता है तथा राग, द्वेष मोहादिक भावो को कर्मोदय से मान कर उनका स्वामी या कर्त्ता वनना छोड देता है तब इसको पुद्गल गुणो से हीन अपने अरस अरूपी अस्पर्शी अगन्ध एव अशब्द रूप का भान होता है, तव यह अपने आपको त्रिकाली, स्वतन्त्र सत्तात्मक, एक एव अविनाशी रूप मे स्वीकार करना है।

ऐसी स्व स्वीकृति होने पर जब इसका चिन्तन मनन करता है तव धीरे धीरे ध्यान की स्थिति का अभ्यास होता है, ध्यान के अभ्यास से

धीरे २ अपने स्वतन्त्र आत्मा की अनुभूति होने पर शरीर मन वाणी उसको स्पष्ट पृथक् प्रतिभासित होने लगते है। बस यह अनुभूति जितने अधिक समय टिकती है, उतनी ही आत्म स्थिति होती है। जब आत्म स्थिति हो जाती है तब किसी अन्य से पूछने की आवश्यकता नही रहती।

सात तत्वो का अर्थ समझ कर, श्रद्धान कर, जो राग बुद्धि छोड देता है वह निर्वाण प्राप्त करता है।

यह परमार्थ वचन जिनवर का कर इसमे पक्का श्रद्धान।
सप्त तत्व श्रद्धान है समकित ज्ञान है इनका सम्यक् ज्ञान ॥१६६॥

रागादिक का त्याग चरित है छोड़ छोड़ कर्त्ता अभिमान।
जग के सारे काम स्वचालित ममत्व भाव मिथ्या तू मान ॥१६७॥

केवल ज्ञाता दृष्टा तू है इन शब्दों का अर्थ पिछान।
भावों का भी तू ना स्वामी कर्मोदय से इनको मान ॥१६८॥

प्रतिक्षण कर्म उदय में आते तत्सम भाव बनें धीमान।
तू कर्त्ता ना किसी तरह भी कर चिन्तन और सत्य पिछान ॥१६९॥

यह सत्य कर्मो को रोके, करदे भंग सन्तति जान।
कर्म सन्तति भंग हुए से तुझे मिले हे प्रभु निर्वाण ॥१७०॥

भगवान जिनेन्द्र देव के यह वचन है हे भव्य जीव तू इनमे पक्का श्रद्धान कर। सात तत्वो का अर्थ जान कर उस मे पूर्ण श्रद्धान सम्यग्दर्शन है तथा इन तत्वो का ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है। सम्यग्दर्शन और सम्यग् ज्ञान होने पर राग द्वेष भावो मे कर्त्ता भाव न रखना अर्थात् यह राग द्वेपादिक विकृतियो का कर्त्ता मै नही हू सब ही विकृतिया कर्मोदय के निमित्त से पैदा होती है। पर द्रव्य व पर भाव मे इष्ट अनिष्ट कल्पना मिथ्यात्व है क्योकि इष्ट वियोग व अनिष्ट सयोग तथा इष्ट सयोग व अनिष्ट वियोग भी कर्मोदय से होते है। किसी वस्तु मे इष्ट व अनिष्ट कल्पना भी मिथ्यात्व ही है क्योकि कोई भी पदाथ स्वय मै इष्ट या अनिष्ट नही है। इसलिये राग द्वेप बुद्धि का त्याग चारित्र कहलाता है।

ससार के सम्पूर्ण कार्य स्वचालित है द्रव्य का स्व क्षेत्र काल और भाव के अनुसार परिणमन होता है अत ममत्व भाव व कर्त्ता भाव को छोड दो यह झूठा अभिमान है।

हे ज्ञानी जीव तू तो केवल ज्ञाता दृष्टा है जिसका अर्थ केवल जानना और देखना ही होता है। ज्ञाता दृष्टा इन शब्दो के अर्थ की

पहचान कर, जिससे तेरा कर्त्तृत्व रूपी मिथ्या अभिमान समाप्त हो।

प्रतिक्षण कर्म उदय मे आते रहते है और जैसे कर्मो का उदय होता है वैसे ही भाव बनते है तू उनका कर्त्ता किसी भी प्रकार नही हो सकता है इस सत्य युक्ति का चिन्तन कर ताकि तुझे सत्य की पहचान हो सके।

इस सत्य की पहचान होने पर तू कर्मो का सवर कर सकेगा, तथा कर्मो का सवर हो जाने पर ही अनादि कालीन कर्म सन्तति का भग हो सकेगा, तथा कर्म सन्तति भग होने पर तू निर्वाण को प्राप्त कर सकेगा।

शुद्ध निश्चय नय से राग द्वेष मोहादिक भावो को निज से भिन्न मान कर, कर्त्तृत्व भाव हटा कर, आत्म स्थिति मोक्ष का कारण बनती है—

राग द्वेष मोहादिक निज कृति ना है, इसको जान लिया।
- ज्ञान और दर्शनमय निज शुद्धातम को पहचान लिया ॥१७१॥

अब निज को निज मे ही रहना दृढ निश्चय यह ठान लिया।
प्रतिक्षण यह अभ्यास बढाकर निज को ज्ञायक बना लिया ॥१७२॥

ज्ञायक बनने पर कर्मो का आना बिल्कुल रोक दिया।
शेष कर्म भी निस्सहाय बन शुष्क पात वत् टूट गया ॥१७३॥

अब निर्वाण मार्ग मिलने से जीवराज झट उड़ गया।
मोक्ष धाम की प्राप्ति हो गयी सुख अनन्त अब पा लिया ॥१७४॥

यह जीव जब तत्वो के अर्थ को जान कर अपने आप को शुद्ध ज्ञान दर्शन मय जान लेता है तथा अपने शुद्ध स्वभाव को समझ कर यह जान लेता है कि शुद्ध आत्मा राग द्वेष मोह आदि का कर्त्ता नही है। जिस प्रकार पागल का अनर्गल प्रलाप पागल का ही प्रलाप कहने मे आता है लेकिन जब वह पागल रोग मुक्त होकर न्यायाधीश के सामने पेश होता है तब न्यायाधीश पागलपन के समय की चेष्टाओ को अज्ञानवस्था की चेष्टा मान कर क्षमा कर देता है, उसी प्रकार यह जीव भी अज्ञानावस्था मे ही राग, द्वेष, मोह आदि करता है।

मुझे आत्मलीन होकर रहना है, अर्थात् पर मे आसक्ति पर की चर्चा एव सभी तरह से परोन्मुखता छोड कर स्वोन्मुख ही होकर रहना

है। यह दृढ निश्चय कर लिया। अब प्रतिदिन आत्मलीनता का अभ्यास वढा कर जग के कार्यो के व निज के भावो का ज्ञाता दृष्टा वन कर रहता है, अत कर्मो का अव आना रुक गया है घातिया कर्मो का तो नाश हो गया है और आयु पूर्ण होने पर अघातिया कर्म भी खिर गये है अत कर्मो के भार से मुक्त होकर अव जीव एक समय मै ही सिद्ध शिला पर चला जाता है। वहा जाने पर जीव अनन्त सुख का स्वामी बन कर अनन्त काल के लिये सुख मे मग्न होकर रहता है। अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य और अनन्त सुख का स्वामी बन कर रहता है।

प्रतिक्षण आत्म चिन्तन करने से आत्म स्थिति का सच्चा आनन्द प्राप्त होता है—

एक क्षण निज से मुख मत मोडो निज तब ही मिल पायेगा।
निजी धाम में रहने का सुख तब ही मिलने पायेगा ॥१७५॥

एक बार सुख जान लिया फिर दृष्टि हटा ना पायेगा।
सदा सदा के लिये उसे पाने को तू जुट जायेगा ॥१७६॥

अतः आत्म अनुभूति करो तो सुख मारग पा जायेगा।
आत्मा की अनुभूति जिस क्षण उस ही क्षण सुख पायेगा ॥१७७॥

सुख का मारग अनुभव में जब दुख मारग क्यो आयेगा।
दुख के कारण खोज खोज कर तत्क्षण उन्हें हटायेगा। १७८॥

दुख के कारण दूर हटेंगे सुख ही सुख रह जायेगा।
ओ ज्ञानी तू तत्व समझले संवर तू कर पायेगा ॥१७९॥

कर्मो का सवर करने मे वही कला काम आती है जो कला सीमा को रक्षा करने मे प्रहरियो के काम आती है। प्रहरियो को प्रतिक्षण टक टकी लगा कर सीमा की ओर देखना पडता है इसलिये वे सीमा मे चोर लुटेरों को प्रवेश करने से रोक पाते है। इसी प्रकार वरावर आत्मा मे स्थित होकर आत्मा का ध्यान करने से राग द्वेष मोहादिक विकृतियो का आना रुक जाता है अत कर्मो का आस्रव न होकर सवर हो जाता है। राग द्वेष मोहादिक के कारण होने वाले सकल्प विकल्प भी मिट जाते है। अत आत्म स्थिति होने से अतीन्द्रिय सुख का आनन्द आने लगता है। एक वार भी जिसको अतीन्द्रिय सुख का अनुभव हो जाता है वह उस सुख को सदा के लिये ही प्राप्त करने हेतु जुट जाता है और एक क्षण के लिये भी पर मे राग दृष्टि नही रखता।

अन हे भव्य जीवो ! आत्म अनभूति करो, जिसको एक बार भी आत्मानुभूति हो जाती है वह सम्यग्दृष्टि होता है। सम्यग्दर्शन एक बार भी होने पर यह जीव अर्ध पुद्गल परावर्तन काल से अधिक इस ससार मे नही रहता। अत आत्मानुभूति कर लेना ही मनुष्य भव की सफलता है।

जिसको आत्मानुभूति हो जाती है उसको उसी क्षण अतीन्द्रिय आनन्द का अनुभव भी होता है। वह ज्ञानी यह समझ लेता है कि आत्म प्राप्ति के अतिरिक्त और कोई भी वस्तु अतीन्द्रिय आनन्द देने वाली नही है। जब वह जीव सच्चा आनन्द कहा है यह जान लेता है तब वह आस्रव के कारणो से दूर रह कर चलता है। वह दुख का कारण जो आस्रव है उसको शुद्ध आत्मा से भिन्न समझ कर चलता है तथा ससार का स्वरूप समझ कर इष्ट अनिष्ट कल्पना छोड देता है तथा प्रति क्षण मिलने वाले कर्म फलो का कर्त्ता व स्वामी नही बनता। इष्ट अनिष्ट कल्पना व कर्म फलो का स्वामित्व छोड देने के कारण अब उसके लिये दुख का कोई कारण ही नही रहता।

अत हे ज्ञानी जीव तू आस्रव और सवर दोनो को समझ कर आस्रव से अपने आपको भिन्न कर ताकि कर्मो का सवर हो सके।

इस प्रकार कर्म का सवर होकर अविनाशी सुख की प्राप्ति होती है—

इस विधि जो कर्मो को रोके, वह सवर कर पाता है।
संवर करना श्रेष्ठ कार्य है अविनाशी सुख दाता है ॥१८०॥

कर्म सन्तति कर्मो की तो एक बड़ा अभिशाप कहा।
इस कलंक को जो जन मेटे वह नमन के योग्य कहा ॥१८१॥

ऊपर की गाथाओ मे जो आत्मानुभूति का मार्ग बतलाया है उस मार्ग से जो आत्मानुभूति कर लेता है वह कर्मो का आना रोक देता है अर्थात् उसको सवर तत्व की प्राप्ति हो जाती है। सवर अविनाशी सुख प्राप्त करने की प्रथम सीढी है।

अनादि काल से जो कर्म सतति बनी हुई है वह जीव के लिये एक अभिशाप है। जिस प्रकार अभिशाप से सतप्त अभिशाप के दूर होने तक दुख पाता रहता है उसी प्रकार कर्म सन्तति के भग न होने तक यह जीव ससार भ्रमण करता हुआ दुख पाता है। जो भव्य जीव सम्यग्दृष्टि बन

कर आत्मानुभूति कर इस कर्म सन्तति को भग कर देता है वह नमस्कार करने योग्य है।

कर्म सतति अनादि से है, स्थिति काल के पूर्ण होने पर कर्म का उदय होता है तब सुख रूप या दुख रूप फल प्राप्त होता है, ज्ञानी उस सुख दुख का स्वामी या कर्त्ता नही बनता अत कर्म फलो से निर्लिप्त होने के कारण उसके कर्म बन्ध नही होता अत वह कर्म सतति भग करने मे समर्थ हो जाता है।

जैसा समय सार गाथा —१८३ से १८६ मे वर्णन किया है—

इति आत्मानुशीलनम् ग्रन्थ का सवर अधिकार सामाप्त हुआ।

जब किरण निकलती अन्तर से (राग धूमपलाशी)

जब किरण निकलती अन्तर से, तब नव प्रभात आ जाता है।
जब किरण निकलती अन्तर से, तब ज्ञेय ज्ञान मे बसता है॥

कर्मो की परते जलती है, अज्ञान आवरण हटता है।
और रूप पलटती अमा कृष्ण, पूरणमासी बन जाती है॥

जब ध्यान जीव का अन्तर मे, पन्चेन्द्रिय पट गिर जाते है।
अरु आत्म द्वार खुल जाने से, दर्शन अनन्त के होते है॥

फिर शुक्ल ध्यान बन जाने से, आतम सरोज खिल जाता है।
व्यूह चक्र कर्म का भेदन हो, जयकार नाद सुन पडता है॥

जब आत्म पृथक् हो इस तन से, निज, मे निज दृष्टि लगाता है।
पर का निज का सब ज्ञान हुआ, प्रभु रमण आत्म मै करता है॥

निर्जरा अधिकार

निर्जरा का स्वरूप—

आस्रव के रुक जाने पर सब पूर्व कर्म खिर जाते है।
फल देकर फल बिना दिये वा उसे निर्जरा कहते है ॥१८२॥

जब कारण नही बनता तब कार्य भी नही होता। कर्मास्रव के रुक जाने पर सवर हो जाता है। अर्थात् नवीन कर्मो का बन्ध नही होता। जो शेष पूर्व बद्ध कर्म है वे स्थिति काल के पूर्ण होने पर उदय मे आकर फल देकर नष्ट हो जाते है। निकाचित कर्म आबाधाकाल से पूर्व तप द्वारा भी नही खिरते अत उनको भोगना आवश्यक है, बहुत से ऐसे कर्म भी होते है जो तप द्वारा आबाधाकाल से पूर्व ही खिर कर निर्जरित होते हैं।

प्रश्न—कर्मो की निर्जरा क्या प्रयत्न द्वारा की जा सकती है ?

उत्तर—हा की जा सकती है। इच्छा निरोधस्तप तपसा निर्जरा च—अर्थात् पन्चेन्द्रिय और मन के द्वारा जो विषयो मे सगति होती है उसको रोकना तप कहलाता है—तथा तप के द्वारा कर्मो की निर्जरा होती है—तप करना निर्जरा के लिये प्रयत्न ही है।

प्रश्न—तप करने की क्या विधि है ?

उत्तर—तत्वार्थ सूत्र मे बतलाया गया है कि विषयो मे सगति को रोकना तप कहलाता है श्रेष्ठ तप तो सम्यक चारित्र का पालन करना है। अपने ज्ञान दर्शन मय उपयोग स्वरूप चेतन स्वरूप का परिचय पाकर आत्म स्थिति करना सम्यक् चारित्र है। आत्म स्थिति ही वह महान प्रयत्न है जिसके द्वारा घातिया कर्मो की निर्जरा हो कर केवलज्ञान प्राप्त होता है। आत्म स्थिति ही सच्चा तप है।

स्व और पर का भेद जान कर अनासक्त भाव से विषयो का भोग करने पर भी कर्म बन्ध न हो कर निर्जरा ही होती है—

सम्यग्दृष्टि जीव सभी इन्द्रिय समूह से भोग करे।
चेतन और अचेतन भोगे फिर भी कर्म खिरे उसके ॥१८३॥

स्व अरु पर का भेद है जाना पर में आसक्ति ना है।
पर से आसक्ति हटने से पर से ग्रन्थि अब ना है ॥१८४॥

पर में मोह भाव जब रक्खे मोह गोद वश पर चिपके।
मोह भाव के दूर किये से पर सब जल्दी सी खिसके ॥१८५॥

आचार्यो का ऐसा मत है कि सम्यग्दृष्टि जीव के निर्जरा अधिक और बन्ध कम होता है। सम्यग्दृष्टि पचेन्द्रिय भोग भोगते है चेतन और अचेतन दोनो को भोगते है, परन्तु उनके कर्म खिरते है बधते नही (अर्थात् खिरते अधिक है और बधते कम है अत केवल खिरने का सकेत किया है)

सम्यग्दृष्टि जीव स्व अर्थात् आत्मा और पर अर्थात् पुद्गल (पौद्-गलिक वस्तुये तथा पौद्गलिक कर्म, पौद्गलिक राग, द्वेष मय भाव) दोनो के भेद को समझता है, वह समझता है कि मै चेतन उपयोग लक्षण युक्त हूँ, दर्शन और ज्ञान मय हूँ अरूपी हूँ। पुद्गल रूप, रस, गन्ध स्पर्श एव शब्द युक्त है, पुद्गल चेतन लक्षण वाला नही है पुद्गल उपयोग लक्षण वाला नही है, पुद्गल ज्ञान, दर्शन मय नही है। जिस पुद्गल मे मेरा एक भी लक्षण नही मिलता वह मेरा नही हो सकता मेरा और पुद्गल का पर-स्पर कोई सम्बन्ध नही है, जब कोई सम्बन्ध नही है तो परस्पर ग्रन्थि होने का सम्बन्ध ही नही है, क्योकि यह मेरा है ऐसी बुद्धि नही रहती।

यह जीव पर वस्तुओ मे अज्ञान वश स्व और पर का भेद न समझने के कारण राग भाव रखता है। राग भाव और मोह भाव से यह जीव पर से चिपक जाता है बध जाता है। अत मोह भाव न रखने से पर से बन्धन समाप्त हो जाता है।

जो निज वैभव को जान लेता है उसकी परासक्ति समाप्त हो जाती है वह स्व मे लीन होकर कर्मो की निर्जरा करता है—

निज वैभव को जिसने जाना, पर से दृष्टि हटी उसकी।
निज घर कोष पड़ा जब जाना, निजपर दृष्टि बनी उसकी ॥१८६॥

निज पर दृष्टि करे जब ज्ञानी निज मे ही वह लीन रहे।
लीन रहे जब निज में वह तो कर्म निर्जरा शीघ्र करे ॥१८७॥

जो अपना स्वय का वैभव देख लेता है, समझ लेता है वह पर से अपनी दृष्टि हटा लेना है, क्योकि आत्म वैभव अनन्त है, आत्मा अनन्त

ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य और अनन्त सुख युक्त है । यह अनन्त चतुष्टय वैभव प्रत्येक भव्य आत्मा के पास है, ससारी जीव के कर्म बन्धन से युक्त होने के कारण उसके ज्ञान गुण पर पडदा पडा हुआ है । अत ज्ञान और दर्शन ही नही रहा और जो कुछ रहा वह केवल ऐन्द्रियिक ज्ञान रहा । जो कि परावलम्बी होता है अत ज्ञान के विना यह जीव शरावी और मदोन्मत्त की तरह स्वय को भी नही पहचान रहा है ।

लेकिन जव यह जीव निज वैभव को जान लेता है तव वह परम आनन्दित होकर निज को देखता है जिस प्रकार घर मे गडे धन को जान कर संसारी जीव खुश होता है उसी प्रकार आत्म वैभव को जान कर यह जीव आनन्दित होता है ।

निज और पर का ज्ञान प्राप्त कर ज्ञानी जीव निज मे ही लीन हो जाता है । निज मे लीन रहने वाले के सकल्प, विकल्प, राग, द्वेष सब समाप्त हो जाते है । पर मे ममत्व भाव नही रहता । ऐसी स्थिति मे उसके नवीन कर्मो का आना रुक जाता है अत नवीन वन्ध भी नही होता तथा पूर्व वद्ध कर्मो की निर्जरा हो जाती है ।

आत्मलीनता के समय जीव सभी कर्मो से मुक्त रहता है—

निज मे लीन रहे जो प्राणी सभी कर्म से मुक्त रहे ।
कर्म मुक्त जो प्राणी रहता वह वन्ध मे नही पड़े ॥१८८॥

ससारी प्राणी यह समझता है कि उसके द्वारा जो कार्य सम्पन्न हो रहे है उनका वह कर्त्ता या स्वामी है, कर्त्तृत्व और स्वामित्व बुद्धि से उसके राग द्वेष पैदा होते है जिसके निमित्त से उसको कर्मो का वन्धन होता है । लेकिन जो ज्ञानी होता है वह समझता है कि सुख दुख की सामग्री कर्मोदय के निमित्त से प्राप्त होती है उस मे मेरा कर्त्तृत्व नही है । किस समय कौन कर्म उदय मे आयगा और उसके निमित्त से कौनसी सामग्री प्राप्त होगी यह सब पहले से ही सुनिश्चित है अत कर्म फलो मे या कर्म करने मे जीवकी कर्त्तृत्व वुद्धि मिथ्या है । कर्मोदय से भाव वनते है, भावो के निमित्त से यह जीव सुख दुख इष्ट अनिष्ट कल्पना करता है तव यह भाव कर्म वन्ध के कारण वन जाते है ।

लेकिन जव ज्ञानी कर्म के होने मे निज कर्त्तृत्व नही समझता है वह कर्म के भार से मुक्त रहता है । जव कर्म का भार ही नही है तव कर्म वन्धन भी नही है ।

निज स्वभाव से तन्मय होकर अन्य सभी भावो से निज को पृथक मानते है—

ज्ञाता दृष्टा बन जो प्राणी निज शरीर से निस्पृह है।
प्राकृत कार्य बने जो तन से उन से भी तन्मय ना है ॥१८९॥

तन्मयता अब निज स्वभाव से ज्ञान भाव निज के माने।
ज्ञान भाव से पृथक् भाव सब है पर भाव यह जाने ॥१९०॥

जब कर्मो के प्रति कर्त्तृत्व बुद्धि समाप्त हो गई तब वह जीव केवल ज्ञायक दर्शक बन जाता है । ज्ञायकदर्शकपना जीव का निज स्वभाव है अर्थात् वह जीव विभाव से हट कर स्वभाव मे आ जाता है, स्वभाव मे आना ही निज पद प्राप्त करने का मार्ग है। शरीर मे भूख प्यास मलोत्सर्जन आदि जो प्राकृतिक कार्य होते है उनमे भी वह जीव तन्मय नही होता अर्थात् प्रकृति के अनुसार जिस कार्य को जिस समय होना है वह होता है। वह न तो यह समझता है कि उसको भूख लगी है, और न वह यह समझता है कि भोजन उसने किया है अर्थात् सभी कार्यो मे उसके कर्त्तृत्व भाव नही रहते।

ऐसी स्थिति मे पर से तन्मयता समाप्त हो जाती है। उसकी तन्मयता अब अपने ज्ञाता दृष्टा स्वभाव से हो जाती है। जितना भी ज्ञान भाव परिणमन होता है वह निज परिणमन है और उन भावो का वह कर्त्ता होता है। ज्ञान भाव के अलावा जो अज्ञान भाव है राग द्वेष मोह आदि के भाव है वे भाव आत्मा की कृति नही है, राग द्वेषदिक तो अज्ञानी की अज्ञान मय चेष्टा है।

जो अनादि काल से अनन्त काल तक आत्मा से पृथक् नही हुए न होगे वे ही आत्मा के निज है—

तन धन यौवन और त्रिया धन कभी नही यह मेरे है।
लक्ष कोटि भव मे भी इनसे पृथक् रहा कहां मेरे हैं ॥१९१॥

यह सब मुझ से पृथक् ही रहते निज तो पृथक् न होते हैं।
दर्शन और ज्ञान गुण मेरे कभी पृथक् ना होते है ॥१९२॥

कर्म और नो कर्म त्रिया धन वगैरह आत्मा से पृथक् है—तन, धन से यह अज्ञानी जीव कितना भी मोह करे वे कभी भी स्वय के न हुए न हो सकते हैं और न होगे। यही कारण है कि अनादि काल से लक्ष कोटि

बार इनको अपना मान कर रह गया, लेकिन क्योकि यह सब पर है, अत निज कभी नही हुए।

जो निज की वस्तु होती है वह कभी पृथक् नही होती। जीव के चेतन लक्षण, उपयोग लक्षण, आज तक कभी भी उससे पृथक् नही हुए क्योकि जीव के निज है। अत तन धनादिक जीव के निज नही हो सकते, क्योकि जीव का एक भी लक्षण इन मे नही मिलता। त्रिया यद्यपि आत्मा है, जीव है। पर पृथक् है। पति की आत्मा भिन्न है और पत्नि की आत्मा भिन्न है। अत पति के लिये पत्नि भिन्न है और पत्नि के लिये पति भिन्न है।

आत्मा के गुण, दर्शन और ज्ञान है जो उसमे अनादि काल से है और अनन्त काल तक रहेगे। अत ज्ञान और दर्शन गुण आत्मा के निज है तथा सासारिक पौद्गलिक वस्तुये आत्मा की निज नही है।

वस्तु तत्व का अज्ञान ही पर बुद्धि का मुख्य कारण है—

राग भाव अज्ञान निमित्त से पर में निज बुद्धि होती।
अज्ञान अवस्था निज की ना है देखो दशा मदात्यय की ।।१६३।।

ज्ञान अवस्था निज की होती पर का लेश जहां ना है।
जब मद नशा मनुज के ना है चेष्टा विकृत भी ना है ।।१६४।।

अज्ञान के कारण (मोहाच्छादित) यह आत्मा पर को निज मानता है तथा राग भाव करता है। यह अज्ञान अवस्था निज मे होते हुए भी निज की नही है। जिस प्रकार मदात्यय मे यह मनुष्य विकृत चेष्टायें करता है लेकिन वे विकृत चेष्टाओ का निमित्त कारण मद ही है। मोहनीय कर्म के प्रबल उदय के कारण प्रबल अज्ञान मय होने की आत्मा की स्वय की योग्यता है और मद उसमे निमित्त कारण बनता है। लेकिन आत्मा तो ज्ञान मय है, वह अज्ञान मय परिणमन नही कर सकता। लेकिन जिस प्रकार शीतल स्वभावी जल अग्नि के सयोग से ऊष्ण हो जाता है उसी प्रकार ज्ञान स्वरूपी आत्मा मोहनीय कर्म के उदय के निमित्त से अज्ञान मय चेष्टाये करता है।

आत्मा की निज अवस्था ज्ञान मय ही होती है और ज्ञानावस्था मे पर भाव पर वस्तु से आत्मा पृथक् रहता है। जिस प्रकार मद का नशा दूर होने के बाद उसकी चेष्टाये सम्यक् होती है। विकृत नही होती उसी प्रकार स्व और पर का ज्ञान होने के बाद ज्ञानी जीव, राग, द्वेष, मोह

आदि विकृतियो का कर्त्ता नही बन कर उनको मोहनीय कर्म के उदय के निमित्त से मानता है वह कर्मोदय जनित औपाधिक भावो को भी पर के निमित्त से मानता है, अत उन भावो का एव भावो के निमित्त से हुए कार्यो का निज को कर्त्ता नही मानता है, उन भावो एव कार्यो का ज्ञाता वनकर रहता है तथा निस्पृह भाव रखता है।

जान पूछ कर कोइ भी सर्प को निज नही मानता उसी प्रकार ज्ञानी भी पर को निज नही मानता—

ज्ञान अवस्था मे जब मानव, कौन सर्प को निज माने।
ज्ञान अवस्था मे जब चेतन कौन अचेतन निज माने ॥१६५॥

कोई भी मनुष्य सर्प को निज नही कहता, सर्प, सर्पणी का सुत है। यह सव जानते है, सर्प विषैले होते है, अत प्यार करना भी कोई नही चाहता। यद्यपि कालवेलिया सपेरा उनको अपने पास रखता है। मन्त्रादि से कीलित कर चतुराई से रखता है, फिर भी सर्प की प्रकृति को समझता है उसको अपने से पर ही मानता है।

इसी प्रकार ज्ञान स्वभावी आत्मा पुद्गल, पौद्गलिक कर्म और फल को निज नही मानता, वह कर्मो का कर्त्ता और कर्म फलो का भोक्ता अपने आपको नही मानता वह समझता है कि अनादि काल से ही मैं ज्ञाता दृष्टा था, ज्ञाता दृष्टा हूँ, और ज्ञाता दृष्टा ही रहूँगा।

पुद्गल पुद्गल का ही उपकार करता है चेतन का नही—

जल भोजन अरु वस्त्रादिक को निज उपकारी ना माने।
पुद्गल पुद्गल का उपकारी चेतन का किस विध माने ॥१६६॥

जो अज्ञानी जीव स्व और पर का भेद नही जानते वे जल भोजन आदि को निज उपकारी समझते है, लेकिन जल, भोजन, वस्त्र सब पुद्गल है अत पुद्गल का ही उपकार कर सकते है जीव का नही। क्योकि समान चीजो से समान चीजो की वृद्धि होती है अत जल भोजन वस्त्रादिक आत्मा का कुछ भी उपकार नही करते। पुद्गल रूप रस गन्ध स्पर्श व शब्द से हीन जो चेतन है उसके समान गुण वाला न होने से पुद्गल चेतन का किसी भी तरह का उपकार करने मे समर्थ नही है। अत हे भव्य जीव पुद्गल तुम्हारा किसी भी तरह उपकारी नहीं है।

ज्ञानी पाप पुण्य की इच्छा नही करता—

पाप पुण्य के भाव जगें उनका भी वह ज्ञायक ही है।
प्रतिक्षण ज्ञान भाव जो रक्खे पाप अरु पुण्य अनिच्छक है ॥१६७॥

जीव के अज्ञानावस्था मे पाप पुण्य के भाव जागृत होते है। पाप पुण्य के भाव भी पर भाव क्यो है यह एक समझने की बात है।

शुभ उपयोग से पुण्य वन्ध होता हे। जो अरिहन्त सिद्ध व प्रवचन के प्रति भक्ति के भाव होते हे, जग उपकारी, जगत के दु ख को हटा कर सुख उत्पन्न करने के भाव होते है, दुखी को देख कर दया के भाव होते हैं, वे सव भाव पुण्य बन्ध करने वाले है।

इसी प्रकार जहा पर पीडन मारण ताडन के भाव ससार को दुखी वनाने के भाव भू ठ चोरी कुशील आदि बुराइयो के भाव स्व हिसा और पर हिसा के भाव पाप वन्ध करने वाले है।

यह दोनो भाव कर्म वन्ध करने वाले है तथा ससार चक्र मे भ्रमण कराने वाले है। स्व गुण तो उस द्रव्य की महिमा दर्शक होते है, लेकिन यह भाव जीव द्रव्य की महिमा को ढकने वाले है अत आत्मा से पर है क्योकि विपरीत स्वभाव वाले हैं।

पाप को तो सभी हेय मानते है, पर पुण्य भी पाप की ही तरह हेय हे क्योकि पुण्य भी वन्धन कारक होने के कारण दुख ही देने वाला है। आत्मा जव सम्यक् चारित्र का पालन करता है तब वह अपने आप मे लीन हो जाता है तव उसके शुभ और अशुभ दोनो ही तरह का बन्ध नही होता, और पूर्ववद्ध कर्मो की निर्जरा होती है। अत निर्जराकारक शुद्ध उपयोग ठीक है। वन्धनकारक शुभ अशुभ उपयोग ठीक नही है।

अत जो जीव प्रतिक्षण ज्ञान भाव मे रहता है वह पाप पुण्य का ज्ञायक होता है, इच्छा करने वाला नही।

ज्ञानी भूत और भविष्य की कल्पना न कर आत्मस्थिति करता है–

इक कण को वह निज नही माने नही परीग्रह उसके है।
भोग यदि वह करे किसी का राग भाव ना उसके है॥१६८॥

भूत चिन्तना ना है उसके नही भवित्य कल्पना है।
वर्तमान मे आत्मलीन वह पर की कहां जरूरत है॥१६९॥

पर के एक कण को भी वह ज्ञानी पुरुष निज की नही मानता, अर्थात् एक कण मे भी उसकी आसक्ति नही रहती। चाहे उसके शरीर को या उसके उपयोग मे आने वाली किसी भी वस्तु को कोई तोड दे, फोड दे नष्ट करदे अथवा छीनकर ले जावे परन्तु ज्ञानी आदमी स्व और

पर का भेद समझने के कारण किसी पर वस्तु की हानि वा वृद्धि मे इष्ट अनिष्ट कल्पना नही करता।

वह भोजन पान वस्त्र आदि का सेवन करते हुए भी उसमे राग बुद्धि नहीं रखता तथा जिस शरीर से भोजन पान आदि का सम्बन्ध रहता है उसमे भी उसकी राग बुद्धि नही रहती। अत भोन आदि के लाभ मे उसको हर्ष नही होता तथा हानि मे दु ख नही होता। वह ज्ञानी पुरुष भूतकाल के भोगो की याद नही करता न भविष्य के लिए किसी प्रकार की चिन्ता करता है। वह अपनी आत्मा मे लीन रहता है, आत्म लीन को सिर्फ स्व ही दिखाई देता है पर दिखाई ही नही देता अत उसे पर के एक कण की भी आवश्यकता प्रतीत नही होती।

वस्तु स्थिति को पहचानना आवश्यक है--

वस्तु स्थिति यह है ज्ञानी आत्म यह ज्ञाता दृष्टा।
दर्शन जानन क्रिया आत्म की अन्य क्रिया का ना कर्त्ता॥२००॥

राग द्वेष मोहादिक सब तो अन्य क्रिया है, निश्चित है।
अन्य क्रिया का अन्य ही कर्त्ता पृथक् आत्म से निश्चित है॥२०१॥

हे ज्ञानी जीव तू वस्तु स्थिति को पहचान, कि आत्मा ज्ञाता दृष्टा स्वभाव वाला है, जानना और देखना तेरी क्रिया है तू केवल अपनी जानने और देखने रूप जो क्रिया है उसका ज्ञाता है। अन्य जो राग द्वेष मोह रूप क्रिया है उनके तुम कर्त्ता नही हो। क्योकि तेरे स्वभाव से विपरीत स्वभाव वाली क्रियाये भी अन्य है और उन क्रियाओ के अन्य ही कर्त्ता है। इन क्रियाओ का आत्मा कर्त्ता नही है।

सत्पथगामी लक्ष्य प्राप्त करता है—

विपथ चले जो प्राणी जग में सत्पथ ज्ञान अगर पावे।
सत्पथ मे ही चले वह तब सत्य लक्ष्य निश्चित पावे॥२०२॥

अतः भव्य तुम सत्य पिछानो मोड़ो निज को उसी तरफ।
अन्य सभी चिन्तायें छोड़ो कदम बढ़ावो सत्य तरफ॥२०३॥

जो प्राणी जग मे सत्य पथ का ज्ञान प्राप्त कर सत्य पथ मे ही अग्रसर हो तो सत्य के लक्ष्य को अवश्य प्राप्त कर ले। अत हे भव्य जीव तुम अपने आत्मा के गुण और अनन्त चतुष्टय वैभव को जान कर अनन्त सुख की प्राप्ति हेतु अपने आप को सत्य की तरफ मोड कर

आत्मोन्मुख बनो और अन्य सभी चिन्ताओ को छोड कर सत्य की तरफ अपना कदम बढावो।

सत्पथगामी शीघ्र ही मोक्ष प्राप्ति के लक्ष्य को प्राप्त करता है—

षट् खण्डों के स्वामी जो है सत्य तत्व ज्ञानी यदि हो।
विपथ छोड़ सत्पथ गामी बन, शीघ्र सिद्ध पद धारी हो ॥२०४॥
अत कर्म किस विधि क्षय होगे यह विकल्प निरर्थक है।
तू तो सत्पथ गामी बन जा सफल बनेगा निश्चित है ॥२०५॥

जो चक्रवर्ती सम्राट है वे छह खण्ड के स्वामी होते है। उनको यदि स्व और पर का ज्ञान हो जावे और वह आत्मा के ज्ञाता दृष्टा स्वभाव को जान ले तो वह निश्चित कुमार्ग को छोड कर सत्य मार्ग का अनुसरण कर सिद्ध पदवी धारण कर सकते है। चक्रवर्ती सम्राट का उदाहरण देने से यह तात्पर्य है कि इतने बडे राज्य को सम्हालने वाले आरम्भ और परिग्रह मे फसे हुए रहते है, भोग विलास की सामग्री भी उनके पास प्रचुर मात्रा मे रहती है, लेकिन वे भी सत्य पथ का अनुसरण कर सम्यग्दृष्टि बन कर केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्ध पद धारण कर सकते है। अत हे ज्ञानी तुम यह चिन्ता मत करो कि कर्मो का क्षय किस प्रकार होगा, तुम तो सत्य पथ का अनुसरण करो सम्यग्दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र को धारण कर निर्वाण प्राप्त करो।

निज को न जानना सबसे बडा अज्ञान है—

अज्ञान कौनसा इससे ज्यादा तुम निज पर को न जानो।
रोग कौनसा इससे ज्यादा निज को हो न पहचानो ॥२०६॥

समाज मे यदि कोई ऐसा आदमी हो जिसको अपने मस्तिष्क की कमजोरी के कारण यह भी याद न रह सके कि वह कौन है और कहाँ रहता है तो इससे बडा कोई अज्ञानी नही होता।

उसी प्रकार यह आत्मा अपने आपको ही भूला हुआ है और पर को निज मान रहा है, इससे ज्यादा कौनसा अज्ञान हो सकता है ?

यह जीव अपने सत् स्वरूप को अपने ज्ञान दर्शन गुणो को एव अपने अनन्त चतुष्टय वैभव को भूला हुआ है। शराबी जब शराब के नशे मे होता है वह अपने आपको अपनी पत्नी को अपने परिवार एव अपने मकान को भी भूल जाता है, लेकिन जब उसका नशा स्वत धीरे धीरे या किसी दवा के कारण कम होता चला जाता है तब वह धीरे धीरे

सभी भूले हुओ को पहचानने लगता है और नशे के चले जाने पर अपने स्वभाव मे आ जाता है तब सब को विधिवत् जानता है और पहचानता है।

इसी प्रकार इस जीव के जब मोह का नशा कम होता जाता है तब वह अपने आपको अपने गुणो को अपने वैभव को जानने लगता है और मोह का नशा बिल्कुल हट जाता है तब उसके गुण पूर्ण रूप से प्रकट हो जाते है।

स्वोन्मुखता से कर्मो की निर्जरा होती है।

अज्ञान हटा अब ज्ञानी बनजा मोड़ मोड़ निज को निज ओर।
पर से दृष्टि हटा ले प्राणी स्व स्थित हो बन सिर मौर ॥२०७॥
निज मे ही स्थित प्रतिक्षण रह निज को हो तू देख चकोर।
कर अभ्यास इसी का ज्ञानी कर्म सन्तति जल्दी तोड़ ॥२०८॥
निज घर मे रहने पर ही तू निज वैभव को पायेगा।
निज वैभव को पाने पर तू निज मे ही रम जायेगा ॥२०९॥
रमण करे जो निज मे प्राणी कर्म निर्जरा करता है।
कर्म बन्ध फिर उसके ना हो अक्षय पद वह पाता है ॥२१०॥

अत हे भव्य प्राणी तू ज्ञानी बन, अज्ञान दूर हटा तू अपने ही ज्ञान गुण से अपने आप को पहचान, जब तू अपने गुण अपना उपयोग स्वरूप अपना चेतन स्वरूप जान लेगा तब ही तू स्वोन्मुख होने लगेगा। हे चेतन तू अपने आपको स्वोन्मुख बना परान्मुखता को छोड, जब इस प्रकार तू स्व स्थित हो जायगा तब तू जगत् शिरोमणि स्वयभू बन सकता है। हे चतुर, तू प्रतिक्षण निज मे ही स्थित रह कर निज को ही देख। ऐसा अभ्यास प्रतिक्षण बढाता चला जा जिससे अनादि कालीन इस कर्म सन्तति का भङ्ग किया जा सके।

जो घर मे रहेगा उसी को घर के माल मिलेगे जो घर मे पैर ही नही रखेगा उसको घर के माल कैसे मिल सकते है अर्थात् नही मिल सकते। अत तू अपने ही घर मे रह, ताकि निज वैभव को प्राप्त कर सके। जब तू निज वैभव को प्राप्त कर लेगा तब तू अपने वैभव को जो कि अनन्त आनन्द स्वरूप एव अनन्त सुख स्वरूप है उसको कभी भी नही छोडेगा।

इस प्रकार निज मे रमण करने वाला वह कर्म बन्ध को रोक कर पूर्व बद्ध कर्मो की निर्जरा कर अक्षय पद मोक्ष पद को प्राप्त कर लेता है।

आत्म ज्ञान के विना सभी क्रियाये व्रत तप आदि निरर्थक है।

ज्ञान विना अक्षय पद कोई प्राप्त कर सका ना अब तक।
अत. तू करले प्रीति ज्ञान से निज पद ना पावे तब तक ॥२११॥

आत्म ज्ञान बिन व्रत तप करना शील पालना व्यर्थ कहे।
आत्म ज्ञान बिन स्वर्ग प्राप्त हो मुदित धाम ना प्राप्त करे॥२१२॥

अत हे भव्य प्राणी तू ज्ञानी बन, आत्म ज्ञान प्राप्त कर इसके बिना कोई भी जीव आज तक अक्षय पद (मोक्ष पद) प्राप्त नही कर सका। तू आत्मानुभूति कर, उसी मे स्थित होजा-तेरा यह स्थित होना ही आत्मा से प्रीति कहलाती है। अत तू अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोगी बन, और प्रतिक्षण ज्ञानोपयोगी तब तक बना रह जब तक तू निज पद अर्थात् अपना स्वाभाविक स्वरूप अर्थात् मोक्ष पद को प्राप्त न कर ले।

हे ज्ञानी जब तक आत्मज्ञान प्राप्त न हो तब तक तू व्रत तप शील पालन वगैरह कुछ भी कर, लेकिन उसका कोई उपयोग नही होता, क्योकि व्रत तपादिक से आत्म ज्ञान के विना शुभ का बन्ध होता है, शुभ का बन्ध स्वर्ग व नव ग्रैवेयक तक इस जीव को ले जाता है लेकिन वे ससार मे ही रहते है, बन्धन से छूट कर मुक्त नही होते। अत वे ससारी बन ससार का दुख भोगते रहते है।

एक कण मे भी, एक क्षण के लिये भी प्रीति मत करो--

इक क्षण भर भी इक कण प्रीति, पर आसक्ति कहलाती।
पर आसक्ति बन्धन कारी अत छोड दो पर प्रीति ॥२१३॥

निज मे प्रीति स्थिति निज मे सदा सदा के लिये करो।
बस यही स्थिति मुदित प्रदाता अत. इसी से प्रीति करो ॥२१४॥

निज स्थिति जब हो जाती है, प्रीति नाम फिर वहा नही।
अतः तू निज मे स्थित होजा, कर पुरुषार्थ यही तू सही २१५॥

एक कण का परिग्रह भी बन्धन है, एक कण के लिये भी जो ममत्व भाव पैदा होता है वह पर मेआसक्ति है, पर के साथ चिपकना है और एक कण का भी परीग्रह मुक्ति मार्ग मे बाधक बनता है। अत पर पदार्थ के एक कण मे भी राग भाव रखना बन्धन ही है। अत हे ज्ञानी जीव तू एक कण मे भी प्रीति मत रख तू यदि प्रीति करना चाहता है तो निज से ही कर और निजात्मा मे ही स्थित होकर रह। यह आत्म स्थिति ही मुक्ति प्रदाता है अत इसी से प्रीति करो।

जब आत्म स्थिति हो जाती है तब उसमे केवल निज का ही ध्यान रहता है, उस समय केवल इतना ही ध्यान रहता है कि मैं हू, और अतिन्द्रिय आनन्द का अनुभव होता है, उस समय प्रीति करने के भाव नही रहते, किसी भी तरह के भाव नही रहते। अत तू आत्म स्थित होजा और इसी के लिये पुरुषार्थ कर। यह पुरुषार्थ ही सही पुरुषार्थ है।

छेदन भेदन होने पर भी निर्मोही स्वस्थित रहता है—

करण से भी जब मोह नही है हानि वृद्धि का ध्यान न हो।
छेदन भेदन नाश भले हो स्व स्थिति से दूर न हो ॥२१६॥

छेदन भेदन तन का होता नाश इसी का होता है।
आत्मा का तो ज्ञान नाम है ज्ञान कभी ना नशता है ॥२१७॥

मनुष्य जब निष्परीग्रही हो जाता है, संसार के सम्पूर्ण पदार्थ कर्म नोकर्म किसी मे भी आसक्ति नही रहती, उस समय यदि पर पदार्थ मे या इस शरीर मे हानि वा वृद्धि होना छेदन भेदन होना, इस पर ज्ञानी निर-ममत्व और निष्परीग्रह भाव रखता है। अत हानि मे विषाद और वृद्धि मे हर्ष नही करता है। वह तो अपनी आत्मा मे स्थित रहता है। वह समझता है कि छेदन भेदन इस शरीर का या अन्य वस्तुओ का होता है यह सब आत्मा से भिन्न है। आत्मा तो अविनाशी है, आत्मा ज्ञायक है आत्मा का नाम ही ज्ञान है, ज्ञान का नाश कभी भी नही होता। जितना आत्मा है उतना ही ज्ञान है जितना ज्ञान है उतना ही आत्मा।

मिथ्यात्व के भेद—

अनायतन छह तीन मूढता आठ मदों का त्याग करो।
आठ अंगयुत सम्यगदर्शन धारण कर सद् दृष्टि बनो ॥२१८॥

दर्शन ज्ञान चारित्र तीन का सेवन साधु नित्य करो।
श्रद्धा स्व की परिचय स्व का आत्म लीनता रूप धरो ॥२१९॥

क्योकि सम्यग्दृष्टि जीव तत्व को यथार्थ रूप से जानता है, उसका ज्ञान सत्य के आधार पर होता है, अत सम्यग्दृष्टि जीव मिथ्यादेव, मिथ्यादेवो के आराधक, मिथ्यातप, मिथ्या तपस्वी, मिथ्या आगम और मिथ्या शास्त्र के पडित इन छह अनायतनो का त्यागी होता है।

मिथ्या देव जो देव सम्यग्दृष्टि नही होते, जो तत्वो का ज्ञान नही रखते और न तत्व ज्ञान मे श्रद्धा रखते है, ऐसे देव स्वय ही सत्य को

नही जानते अत वे अपने आराधको को किसी प्रकार का लाभ नही पहुचा सकते ।

मिथ्या तप— आत्म ज्ञान से शून्य जो क्रिया कांड होता है, वह मिथ्या तप कहलाता है—जैसे पचाग्नि तप तपना, काँटो के ऊपर शयन करना शरीर को कष्ट देना ।

मिथ्या आगम, मिथ्या शास्त्र—व्यर्थ के क्रियाकांडो के पोषक तत्व ज्ञान से शून्य जो आगम या शास्त्र होते है उनको पढने से, उन पर श्रद्धा करने से मिथ्यात्व ही पैदा होता है ।

मिथ्या तपस्वी मिथ्या देवो का आराधक मिथ्यात्व मे ही लिप्त रहता है, अत छह अनायतनो का त्याग सम्यग्दृष्टि को करना आवश्यक होता है ।

आठ मद—ज्ञान, ऐश्वर्य, शास्त्रज्ञान, तप, कुल, बल, जाति और रूप इनका मद करने वाला सम्यग्दृष्टि नही होता क्योकि मान कषायी मिथ्यात्व का पोषक होता है । मान कषाय एक ऐसी बुराई है जिसके होते हुए सत्य का निर्णय नही हो पाता ।

तीन मूढता—मूढता नाम अज्ञान का है, अज्ञान तो सदा ही तत्व ज्ञान से रिक्त ही रहता है, तत्व का सम्यक् ज्ञान न होना ही अज्ञान है, अत मूढताओ का पोषक सम्यग्दृष्टि नही हो सकता ।

लोक मूढता—नदी या समुद्र स्नान मे धर्म मानना अग्नि मे स्वय जलने या दूसरे को जलाने मे धर्म समझना । पहाड से गिर कर मरने मे धर्म समझना । पत्थर, वृक्ष, लता, सूर्य, चन्द्र आदि की पूजा करने मे धर्म मानना लोक मूढता है ।

देव मूढता —जो देव स्वय मिथ्यात्वी है, जो देव तत्व ज्ञान से रिक्त है, उनकी पूजा करना और उसमे धर्म मानना देव मूढता है ।

समय मूढता—कुदेव, कुशास्त्र और कुगुरु की भय के कारण, लोभ के कारण, आदर सत्कार करना समय मूढता है ।

सम्यग्दर्शन के आठ अग—तत्व ज्ञान मे शका न करना । तत्व यही है इसी प्रकार है और किसी प्रकार नही है । इस प्रकार दृढ निश्चय करना निशकत अग है । सर्वज्ञ देव की वाणी मे पूर्ण विश्वास करना तथा इह लोकभय, पर लोक भय, अरक्षा भय, अगुप्ति भय, मरण भय, व्याधि भय, वेदना भय, अकस्मात भय इन भयो से रहित होकर तत्व ज्ञान मे

विश्वास करना नि शकित अग है। अपने आत्मा मे लीन रहते हुए कर्म और नोकर्म को अपने से भिन्न मानते हुए धन, धान्य वस्त्र आदिक पदार्थो का त्याग करना भोजन, पान आदि का यथा शक्य त्याग करना। क्रोध, मान, माया आदिक कषायो व नोकषायो को अपनी शुद्ध आत्मा से भिन्न मान कर उनका त्याग करना नि काक्षित अग है।

आत्म ज्ञानी ससार को प्रत्येक वस्तु के पदार्थ रूप मे देखता है, उसके लिये न कोई रोगी और न कोई शुद्ध है, वह किसी से घृणा या प्रेम नही करता, शरीर पर जमी हुई मिट्टी या कीचड से भी घृणा नही करता, क्योकि प्रत्येक जीव आत्मा है और प्रत्येक पदार्थ पदार्थ है, इस तरह सम्यग्दृष्टि निर्विचकित्सा अग का पालन करता है।

अमूढ दृष्टि अग भी बडा महत्वपूर्ण है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि मूढता से बहुत दूर होता है, पूर्व मे जो तीन प्रकार की मूढता बतलाई है, सम्यग्दृष्टि इनको मिथ्यात्व पूर्ण समझकर आत्मा मे ही लीन रहता है। सम्यग्दृष्टि तत्व के स्वरूप को समझता है, वह आत्म हित को सर्वोपरि समझकर सर्वज्ञ देव की वाणी मे ही पूर्ण विश्वास करता है, स्व और पर के भेद को समझता है, स्व को समझता है तथा पर को भी समझता है। स्व का पर मे और पर का स्व मे कोई भी प्रवेश नहीं है यह मानता है।

उपगूहन अग का अर्थ है, दोषो को ढकना। अज्ञानी मुनि या श्रावक कोई ऐसा कार्य करले जिससे धर्म की निन्दा होती हो उस समय उसके दोषो को ढकना व्यवहार उपगूहन कहलाता है। तथा स्वय के कार्यो या भावो द्वारा आत्म साधना मे दोष को स्वत निकाल कर पुन अपने आपको आत्म स्थित करता है, वह निश्चय उपगूहन अग कहलाता है।

स्थितिकरण अग का अर्थ है धर्मच्युत मानव को पुन धर्म मे स्थित करना, यह स्थिति करण है, निश्चय मे तो चारित्र मोह के उदय मे जो क्रोध कामादिक भाव उपस्थित होवे उन भावो को अपने शुद्ध स्वभाव से पृथक् जानकर अपने आपको आत्म स्थित रखना है।

वात्सल्य अग व्यवहार मे तो निज धर्मानुयायियो के साथ वात्सल्य भाव रखना है। निश्चय मे तो सभी विकारो से दूर होकर अपने आत्मा की प्रीति रखना वात्सल्य अग कहलाता है।

प्रभावना अग का अर्थ है, साहित्य सेवा, मन्दिर निर्माण, उत्सव आदि करा कर जैन धर्म की प्रभावना बढाना। और भी सत्कार्य जैसे

जैन धर्म के ज्ञान वर्धन हेतु विद्यालय, महाविद्यालय की स्थापना करना अपने सत्कार्यो व्रत उपवासादिको के द्वारा, त्याग द्वारा जैन धर्म की प्रभावना करना व्यवहार है। निश्चय से तो स्व सवेदन ज्ञान द्वारा ज्ञान, दर्शन स्वभावी निज शुद्ध आत्मा मे लीन रहना, प्रभावना अग है।

इस प्रकार छह अनायतन, तीन मूढता, आठ मद का त्याग करते हुए अष्ट अगो का पालन करने वाला सम्यग्दृष्टि कहलाता है।

साधु को चाहिये कि भेद ज्ञान द्वारा स्व का ज्ञान कर श्रद्धा करे और स्व मे ही लीन रहे।

इति आत्मानुशीलनम् ग्रन्थ का निर्जरा अधिकार समाप्त।

जब नक तुमको भेद ज्ञान ना क्रोधादिक के कर्त्ता हो।
जब तक तुमको भेद ज्ञान ना राग द्वेष मय तुम ही हो ॥१॥
सूर्य किरण से जगत् प्रकाशे अन्धकार तो कभी न हो।
सूर्य किरण जिस जगह न पहुँचे अन्धकार स्वत ही हो ॥२॥
ज्ञान स्वरूपी तुम हो आत्मन् ज्ञान भाव के स्वामी हो।
ज्ञान आवरण बने जहा अज्ञान आचरण ही तो हो ॥३॥
प्रकाश नही तम का कर्त्ता है क्रोधादिक का ज्ञान न हो।
तम प्रकाश विपरीत स्वभावी अज्ञान ज्ञान भी उस विध हो ॥४॥
तीव्र पटल ज्ञान पर जिसके जन्म अन्धवत् चर्या हो।
वह विकृतिया निज की माने निज पर भेद उसे ना हो ॥५॥
विकृति कर्त्ता निज को समझे वह नर मिथ्या दृष्टि हो।
शुद्ध आत्म और विकृतियो के भेद ज्ञान विन मुक्त न हो ॥६॥
व्यवहार दृष्टि इक नाटक केवल तत्व ज्ञान से शुन्य कहो।
निश्चय नय आश्रित मनु जग मे मुक्ति मार्ग अनुगामी हो ॥७॥
अत सदा निश्चयनय आश्रित भेद ज्ञान पारगत हो।
'प्रभु' कहे कि भेद ज्ञान विन जन्म मरण दुख दूर न हो ॥८॥

पुण्य पाप अधिकार

पाप पुण्य कैसे बनते है—

जग उपकारी, निज उपकारी भाव पुण्य का बन्ध करे।
निज, पर, प्राणों में बाधा के भाव पाप का बन्ध करे ॥२२०॥

अणुव्रत और महाव्रत पालक, निज पर का उपकार करे।
व्रत पालक यदि निज को जाने कर्मक्षय भी वह करे ॥२२१॥

पुण्य पाप अधिकार की आवश्यकता समझते हुए पुण्य पाप का सक्षेप से वर्णन किया जाता है।

जब यह जीव निज उपकार के भाव बनाता है, अथवा पर उपकार के भाव बनाता है तब उसको पुण्य का बन्ध होता है। यदि यह जीव निज अथवा पर प्राणो मे बाधा उपस्थित करता है, मन, वचन, काय से पाँचो पापो मे से किसी भी पाप के भाव रखता है। चारो कषायो को तीव्र रूप मे करता है, अधिक आरम्भ परिग्रह मे उद्यत रहता है, तब इसको पाप का बन्ध होता है।

अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह इन पाचो व्रतो को पूर्ण रूप से अथवा एक देश पालन करना कषायो को मन्द करता है। तथा भावो को निर्मल बनाकर धर्म की ओर प्रेरित करता है। कषायो का मन्द होना और धर्म की ओर प्रेरणा होना पुण्य बन्ध का कारण है। इसके साथ जब मनुष्य कषाये कम करता है, इसका फल समाज हित-कर भी है क्योकि तीव्र कषायी ही निज और पर पीडा का कारण बनता है, मन्द कषाय अवस्था मे मनुष्य की धर्म की ओर प्रवृत्ति होती है। धर्म प्रवृत्ति से जीव अपनी आत्मा को कर्म भार से मुक्त करने को अग्रसर होता है। धर्म प्रवृत्ति से ही यह आदमी जग उपकारी कार्यो के भाव बनाता है। अत हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह इन पाच बुराइयो का त्याग स्व और पर हित मे है। अत ऐसे हित कारक भावो मे पुण्य का बन्ध होता है और यदि वह जीव आत्म ज्ञानी हो तो कर्मो की निर्जरा भी करता है।

प्रश्न—निज का उपकार तो स्वार्थ है, इससे पुण्य बन्ध किस प्रकार होता है।

उत्तर—निज का उपकार पर उपकार से अधिक महत्वपूर्ण है। निज के शत्रु है—मिथ्यात्व अविरति कषाय और योग जिनके कारण यह जीव अनादिकाल से लख चोरासी मे भ्रमण कर रहा है—अत इन चारो को हटाना स्व का उपकार है। इन चारो के हटने पर आत्मा कर्म बन्धन से मुक्त होता है।

आत्म ज्ञान के विना शुभ प्रयत्न पुण्य का बन्धन करते है—

आत्म ज्ञान हित जो प्रयत्न हो वह चेष्टा सब सम्यक् है।
शास्त्रो का स्वाध्याय करो वा व्रत तप सब पुण्यास्रव है ॥२२२॥

श्री जिनवर अरु जिनवाणी के भक्ति भाव सब पुण्य कहे।
दान चतुर्विध दया दुखी पर पुण्य बन्ध के मार्ग कहे ॥२२३॥

प्रश्न—शास्त्र स्वाध्याय व्रत तप, दया, दान, मोक्ष जाने मे कारण है या नही।

उत्तर—१—जिस प्रकार नदी को बाहुवल से पार करने मे तैरने की क्रिया व उसका ज्ञान आवश्यक है, तथा नदी की गहराई उसका वेग नदी की चौडाई व अपने शरीर की शक्ति का ज्ञान भी आवश्यक है। उसी प्रकार मोक्ष जाने मे निज स्वरूप का ज्ञान व निज मे रमण करने की क्रिया का ज्ञान अत्यन्त आयश्यक है तथा वह क्रिया जान कर उस पर आचरण करना भी उतना ही आवश्यक है। जो आत्म ज्ञान प्राप्त कर उसी मे लीन हो जाता है वह अवश्य ही कर्मो के व्यूह चक्र का भेदन करता है तथा मोक्ष पद प्राप्त करता है।

२—सच्चे शास्त्रो के स्वाध्याय करने से आगम का ज्ञान होता है—कुन्दकुन्दाचार्य ने प्रवचन सार मे साधु को आगम चक्षु कहा है, अत शास्त्र स्वाध्याय से आत्म ज्ञान भी होता है तथा उसको प्राप्त करने की विधि भी मालुम होती है अत शास्त्र स्वाध्याय मोक्ष जाने मे परम्परा से कारण है—प्रत्यक्ष मे तो आत्म श्रद्धा, आत्म परिचय और आत्म लीनता ही मोक्ष जाने मे कारण है। जो साधु मे देखने को मिलती है।

३—व्रत, तप, दया, दान इन सब मे इच्छा का निरोध होता है, ऐन्द्रियिक विषयो का परीसीमन होता है, जग उपकार के भाव जागृत

होते हैं, अत: इनसे पुण्य का बन्ध होना तो निश्चित है, लेकिन मोक्ष जाने मे ज्ञान बिना हुए कारण नही बनते। जिनको आत्म ज्ञान हो गया हो और वे व्रत तप करते हैं, दया, दान करते है, तो कर्मों की निर्जरा हो सकती है, बिना आत्म ज्ञान के केवल व्रत, तप, दया, दान से मोक्ष प्राप्ति करने की इच्छा निष्फल है क्योकि आत्म ज्ञानी आत्म ज्ञान वर्धन हेतु होता है, केवल शरीर कष्ट या व्यवहार संयम के लिये नही।

फिर भी दान, दया, और भक्ति कर—

यद्यपि आत्म ज्ञान होने तक सब चेष्टा बन्धन कारी।
तदपि दान, दया और भक्ति तू कर अवश्य बन उपकारी ॥२२४॥
जो अमृत फल प्राप्त न हो तो अन्य मधुर फल ही खावे।
दोनों ही यदि नहीं मिलें तो भी विष फल को न खावे ॥२२५॥

यद्यपि आत्मज्ञान के बिना व्रत, तप दया, दान आदि से कर्मों की निर्जरा न होकर कर्म बन्धन ही होता है, फिर भी तू अवश्य ही पर का उपकार कर, दान भी दे, दुखियो पर दया कर, देव शास्त्र गुरु की भक्ति भी कर इससे निश्चय ही तू पुण्य बन्ध करेगा।

यदि अमृत फल खाने को न मिले तो अन्य फल जो कि मधुर हो और उपयोगी हो, उनको ही खाना चाहिये लेकिन अमृत फल और मधुर फल दोनो खाने को न मिले तो भी विष फल को कभी न खावे।

अर्थात् अन्त लक्ष्य तो मोक्ष प्राप्त करने का ही होना चाहिये, लेकिन यदि कोई मोक्ष न जा सके तो दान दया और भक्ति भाव तो अवश्य रखने ही चाहिये। क्योंकि उपयोग शुद्ध और शुभ दोनो मे ही न होगा तो अशुभ मे होगा। अशुभ से तिर्यन्च या नरक निगोद के दुख भोगने पड़ते हैं। अत: उपयोग शुद्ध हो तो श्रेष्ठ लेकिन शुद्ध न हो तो अशुभ उपयोग तो नही होना चाहिये। अशुभ उपयोग मे रहना विषफल खाने के समान है, विषफल खाने मे अनेक तरह के रोग उत्पन्न हो सकते हैं और मृत्यु भी हो सकती है, अत: विषफल खाने से ज्यादा अज्ञान और क्या हो सकता है? इसी प्रकार शुद्धोपयोग मे तो मुक्ति का मार्ग ही बन जाता है, शुभोपयोग से स्वर्ग व मनुष्य बनकर अनेक भोग भोगता है, यदि तिर्यन्च भी बन जावे तो भी वह उत्तम भोग भोगता है। लेकिन अशुभोपयोग मे रहने वाला तो नरक और तिर्यन्च गति के दुख ही भोगता है अत: अशुभोपयोग को विषफल की सजा दी गई है।

व्रत, तप करना चाहिये लेकिन ये बन्धन के कारण ही है—

अत अशुभ भावो को छोड़ो, व्रत तप पालन करो अवश्य ।
जग को सुखी बनाऊं, मै भी सुखी बनू यह सोचो नित्य ॥२२६॥

इस विधि पुण्य बन्ध हो जाता स्वर्गादिक सुख मिल जाता ।
पाप पुण्य दोनो बन्धक हैं, समझ इन्हे तू बन ज्ञाता ॥२२७॥

इसलिये अशुभ उपयोग से तो बचना ही चाहिये । हे जीव यदि तेरी रुचि आत्मा मे नही है यदि तेरे तत्वो मे श्रद्धा के भाव जागृत नही होते तो यह समझ कि तेरा मोक्ष अभी निकट नही है, अत तू अणु व्रतो का पालन कर, स्वय सुखी होने का एव अन्य सभी जीव सुखी रहे ऐसा चिन्तन कर, भावना कर, और चिन्तन को अपनी शक्ति के अनुसार दया, दान आदि के द्वारा कार्यरूप मे परिणत कर ।

हे जीव इस प्रकार पुण्य का बन्ध होता है और स्वर्ग नव ग्रैवेयक तक के सुख प्राप्त होते है । लेकिन हे जीव यदि चिर सुखी होना चाहता है ससार के दुखो को अनन्त काल के लिये समाप्त करना चाहता है तो देख पुण्य पाप दोनो ही बन्धन कारी है, ससार मे ही भ्रमण कराने वाले है । अत शुद्ध उपयोगी बन रत्नत्रय प्राप्त कर, जिससे तेरा ज्ञानी नाम पड़े ।

मुक्ति प्राप्त करने के लिये पुण्य पाप दोनो को ही हटाना आवश्यक है—

खूब मुलायम रेशम की रस्सी से कोई बंध करे ।
तो भी वह बन्धन ही तो है, श्रेष्ठ वह जो मुक्त करे ॥२२८॥

अत पाप ही पाप नही हैं, पुण्य पाप दोनो ही पाप ।
बन्ध पाप का रोको ज्ञानी, जिससे छूटे भव का ताप ॥२२९॥

ससार मे ऐसी प्रवृत्ति पायी जाती है कि पाप को तो हेय मानते है, पर पुण्य को हेय नही मानते । लेकिन यदि किसी मनुष्य अथवा पशु को सख्त रस्सी से न बाध कर मुलायम रेशम की रस्सी से बाध दिया जावे तो क्या वह बन्धन नही है ? वह भी बन्धन ही है । इसी प्रकार पुण्य उपार्जन से भी ससार बन्धन ही होता है । अत जीव को पाप और पुण्य दोनो ही ससार मे बन्धन करके रखते है ।

अत. पुण्य भी पाप ही है, हे ज्ञानी कर्म बन्धन से बचने के लिये शुद्धोपयोगी बन शुभोपयोग और अशुभोपयोग दोनो ही मुक्ति मार्ग मे बाधक हैं । अत शुद्धोपयोगी बन कर बन्ध से बचो जिससे भव का ताप मिटे ।

निज आत्मा के अनन्त वैभव की जानकारी आवश्यक है—

निज आत्मा का परिचय पावो कोष अपरिमित उसमे है।
अनन्त राशि पति कोई न जग मे, अनन्त कोष पति आत्मा है ।।२३०।।
दर्शन ज्ञान वीर्य और सुख निज के ही गुण है पहचानो।
शक्ति अनन्त है इन सबकी, निज को ही तुम स्वामी जानो ।।२३१।।

निज आत्मा का स्वरूप उसके गुण उसका स्वभाव तीनो को जानकर देखो कि आत्मा अनन्त कोष का स्वामी है। वह अनन्त चतुष्टय युक्त है। इस ससार मे चक्रवर्ती की राशि भी अनन्त नही होती, आत्मा ही एक ऐसा द्रव्य है जो अनन्त कोष का स्वामी है। अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य और अनन्त सुख आत्मा के गुण है। अत आत्मा ही अपरिमित गुणो का स्वामी है। ये अनन्त चतुष्टय तुम्हारे मे मौजूद है लेकिन तुम्हारी उस धन पति के समान दशा हो रही है जो अडव खडव का स्वामी है, उसका कोष उसके स्वय के घर मे गडा पडा है, लेकिन उसको इसका ज्ञान नही है, ज्ञान न होने से वह निर्धन हो रहा है, उसी प्रकार हे भव्य प्राणी तुम्हारे मे ये अनन्त चतुष्टय मौजूद है, लेकिन उसका ज्ञान न होने से तुम पर मे निज बुद्धि लगाये हुये हो, और निर्धन के समान दुखी हो रहे हो।

मोह—आत्मा के अनन्त कोप के लिये डाकू के समान है—

पितृ धनों का हर्त्ता यह है, यह जान उद्यम करते।
बने जहां तक अपहर्त्ता से निज धन को वापिस लेते ।।२३२।।
निज धन हर्त्ता मोह, वस्तु में, मोह निमित्त से हो अज्ञान।
कर्म फलों को यह अज्ञानी, निज माने यह है बन्धान ।।२३३।।
अत भव्य तुम ! निज गुण वैभव प्राप्त करो अपहर्त्ता से।
अपहर्त्ता अज्ञान तुम्हारा अज्ञान हटादो निजश्रम से ।।२३४।।

यदि किसी को यह मालुम हो जावे, कि अमुक आदमी ने मेरे पिता का धन अपहरण किया था, तो उस धन को अपहरण कर्त्ता से वापिस लेने का पूर्ण प्रयत्न कर, यदि ले सकते है तो लेते है।

हे भव्य जीव तुम्हारा धन हरण करने वाला मोह ही है। जिस प्रकार वेश्यागामी वेश्या के मोह मे फस कर सब कुछ गवा बैठता है उसी प्रकार तुम पर वस्तु के मिथ्या मोह मे फसकर अपने अपरिमित कोप को

गवाये बैठे हो। इस मोह से तुम अज्ञानी हो रहे हो और जो फल कर्मोदय के निमित्त से प्राप्त हो रहे है उनके तुम स्वामी बनकर कर्मो का वन्ध कर रहे हो।

हे ज्ञानी इस मोह रूपी अपहरण कर्त्ता से अपने वैभव को प्राप्त करो। जव मोह नष्ट होगा, स्व और पर का भेद मालुम होगा तव ही यह अज्ञान नष्ट होगा और खोया हुआ तुम्हारा अनन्त चतुष्टय वैभव तुमको प्राप्त होगा।

पराश्रिति महान दुख है—

ध्येय तुम्हारा सुख पाना है, पराश्रिति को दुख मानो।
पाप पुण्य का कर्म और फल, दोनो पर आश्रित जानो ॥२३५॥

पाप पुण्य दोनो से हट कर, शुद्ध आत्म निज को मानो।
पर मे प्रतिक्षरण पर ही दृष्टि, निज मे निज को ही जानो ॥२३६॥

तुम्हारा ध्येय सुख पाना है, पाप पुण्य का फल पराश्रित है, पर के आश्रित रहना दुख है। एक सूई की चाह भी पराश्रित पैदा करती है। हे जीव तुम्हारा वैभव तुम्हारे ही पास है, तुम्हरा अनन्त वैभव मोह रूपी अज्ञान के पीछे छिपा हुआ है, तू अपने आप मैं पूर्ण है। हे अनन्त चतुष्टय वैभव के धनी तुझे जिसकी जरूरत है वह सम्पूर्ण तेरे पास ही है, तुझे पुद्गल के एक कण की भी जरूरत नही है। अत तू पर की चाह करके क्यो पराश्रित होता है। पराश्रिति ही वन्धन है।

अत तुम पाप और पुण्य दोनो को हेय समझकर अपने आप को द्रव्य रुप से और स्वभाव से शुद्ध मानो। अपने गुणो को ही निज मानो। तुम असख्येय प्रदेशी हो लेकिन तुम्हारा एक भी प्रदेश कही अन्य स्थान पर नही जाता। वे प्रदेश हमेशा तुम्हारे मे ही रहते है। अत पर वस्तु की तुमको आवश्यकता नही है। पर को पर दृष्टि से देखो और निज को पूर्ण मानो।

प्रतिक्षण ज्ञान का उपयोग करना श्रेयस्कर है—

प्रतिक्षरण ज्ञानी बने रहो तुम पर संगति का करदो त्याग।
निज पर का तुम भेद जानले, यह मन्त्र निज हित के काज ॥२३७॥

पर का इक कण पर आश्रित कर, दुख देता है इस जग मे।
अतिशय आत्मोत्पन्न अतीन्द्रिय सुख तेरा रहता तुझ मे ॥२३८॥

हे ज्ञानी जीव तुम ज्ञान को छोड कर अज्ञान में एक क्षण के लिये भी मत आवो, न मालुम उस अज्ञान वाले क्षण मे ही तुम्हारी देह छूट जावे और तुम अज्ञान अवस्था में ही पुनर्जन्म करो, अत एक क्षण के लिये भी अज्ञान को आश्रय मत दो। जब तुम ज्ञान मे रहोगे तो पर सगति नही बनेगी, क्योकि पर सगति अज्ञान से ही होती है और तुम ज्ञान मे हो, तब पर सगति क्यो बनेगी ? हे ज्ञानी तुम निज और पर का भेद पहिचानो, निज पर का भेद जानने से ही तुमको सिद्धि मिलेगी और मोक्ष फल को प्राप्त करोगे।

स्व और पर का भेद जानने से तुम जान सकोगे कि पर के एक कण की इच्छा भी ससार बन्धन कारक एव दुख कारक होती है। हे प्रभु तू स्व को जानकर देखेगा कि आत्मा से ही उत्पन्न अतीन्द्रिय अतिशय सुख आत्मा के ही अन्दर है। तू सुख बाहर ढूढता है जबकि सुख तो तेरे अन्दर ही है। हिरण कस्तूरी को बाहर ढूढता है, लेकिन कस्तूरी बाहर नही है। कस्तूरी तो उसकी स्वयं की नाभी मे है। अत निज को पहचान कर अपने आप मे ही ठहर और देख कि अनन्त सुख की खान तुम स्वय ही हो।

शुद्ध उपयोगी बन्धन से बचता है—

शुभ अशुभ उपयोग छोड़ जो शुद्ध आत्म मे लीन रहे।
जग बन्धन से वह बच जाता अतः शुद्ध उपयोग करे॥२३६॥

स्व और पर का भेद जानने से तुमने यह जान लिया है कि पर मे प्रवृत्ति करने मे शुभ या अशुभ का बन्ध होकर ससार भ्रमण करना पडता है अत शुभ और अशुभ दोनो को छोड कर अपने शुद्ध आत्मा मे लीन हो जावो। क्योकि शुद्धोपयोगी जग के बन्धन से छूट जाता है।

प्रश्न—पर प्रवृत्ति किसको कहते है ?

उत्तर—स्व से अतिरिक्त पर होता है। आत्मा स्व है, आत्मा के गुण और स्वभाव स्व है, आत्मा के स्वभाव और गुणो के विपरीत सब पर है।

१—पर पुद्गल है, कर्म पर है, द्रव्य कर्म तो स्पष्ट रूप से पौद्गलिक दिखाई देते है और भाव कर्म भी आत्मा की अज्ञान अवस्था मे उत्पन्न होने के कारण तथा पर के निमित्त से उत्पन्न होने के कारण पर ही हैं। राग, द्वेष, मोह ये विकार है, विकार आत्मा की अशुद्ध अवस्था

में पैदा होते है, जिस प्रकार पागल आदमी की विकृत चेष्टाये उसको पागल अवस्था मे पैदा होती है, तथा पागलपन के कारण होने से मनुष्य की स्वस्थ अवस्था से पर है। उसी प्रकार आत्मा की अज्ञान अवस्था के विभाव शुद्ध आत्मा से पर हैं।

अज्ञान अवस्था मे पैदा होने वाले राग, द्वेष, मोहादिक विकृत भावो को निज मानना पर प्रवृत्ति कहलाती है। ज्यो ज्यो ज्ञान का उघाड होता जाता है आत्मा स्व और पर का भेद जान लेता है, अत अपनी शुद्ध अवस्था मे लीन होकर अपने शुद्ध रूप को प्राप्त करता है।

इति आत्मानुशीलनम् ग्रन्थ का पुण्यपाप अधिकार समाप्त

———

ज्ञान स्वरूपी आत्म तुम्ही हो, ज्ञान नाम आत्मा का है।
ग्रन्थ और पुस्तक मे तुम ना वास तुम्हारा तुम मे है ॥१॥
षट् खण्डागम किरण तुम्हारी किरण सभी अनुयोग है।
ज्ञेय तुम्हारा तीन लोक है ज्ञायक नाम तुम्हारा है ॥२॥
मति श्रुति अवधि मन पर्याय तुम केवल नाम तुम्हारा है।
शक्ति अनन्त तुम्हारी ही है सुख तुम मे ही रहता है ॥३॥
जग का सुख तो सुख ना बाबा सुख स्वरूप तो तुम ही हो।
कमी एक पहचान स्वय की जिसके कारण दुखमय हो ॥४॥

———

बन्ध अधिकार

बन्ध का स्वरूप—

बन्ध नाम बन्धन का ही ह, कर्म बन्ध का वर्णन है।
कर्म जीव के किस विध बंधता, इसका ही यह दर्पण है ॥२४०॥

बन्ध अधिकार मे कर्मो का जीव के साथ बन्धन किस प्रकार होता है, इस सिद्धान्त का वर्णन किया जाता है। आखे मुख को देख नही सकती है, लेकिन दर्पण के द्वारा मुख का अवलोकन भली प्रकार हो जाता है, उसी तरह इस अधिकार को पढ कर कर्म बन्ध का ज्ञान हो सकेगा।

वस्तु स्वरूप अज्ञान जगत् में मुख्य बन्ध का कारण है।
राग, द्वेष की मुख्य भूमिका, पर आसक्ति ही जड़ है ॥२४१॥

जीव एक चेतन द्रव्य है, ज्ञान अवस्था मे जीव को स्व व पर का ज्ञान होता है, जीव तीन लोक और तोन काल के सम्पूर्ण पदार्थो की सम्पूर्ण पर्यायो को एक साथ देखने की शक्ति रखता है। जीव एक है, शुद्ध है, ज्ञान और दर्शन मय है। ज्ञान और दर्शन गुण के कारण इसका ज्ञाता दृष्टा स्वभाव है। जीव जब स्व के बजाय पर पदार्थो मे मोह भाव व राग भाव रखता है। तव यह अज्ञान अवस्था मे कहलाता है। अज्ञान के कारण अपने ज्ञाता दृष्टा स्वभाव को भूल कर कर्त्ता भाव रखता है, अत क्रोधादिक कषायो का निज को कर्त्ता मानता है, पौद्‌गलिक कार्यो का भी निज को कर्त्ता मानता है, जिसका कर्त्ता बनता है, उसमे राग भाव एव स्वामित्व बुद्धि अवश्य पैदा होती है। पर मे राग करना ही बन्धन है। छोटी से छोटी सूई से लेकर बडी से वडी वस्तु मे राग भाव एक ग्रन्थि पैदा करती है, वह ग्रन्थि ही वन्धन है। पर वस्तु मे मोह भाव आसक्ति कहलाती है।

जैसे तैल लगा यदि तन हो, धूल चिपकती रहती है।
वैसे पर में राग द्वेष से, कर्म धूलि चिपकती है ॥२४२॥

केवल राग बन्ध का कारण है—

अजीव जीव उपभोग जीव के, वे न जीव का बन्ध करें।
राग भाव यह बने जीव के, अत. जीव निज बन्ध करें ॥२४२॥

यह जीव चेतन और अचेतन वस्तुओ का भोग करता है, लेकिन वे वस्तुए जीव का बन्ध करने मे समथ नही है। केवल उन वस्तुओ मे राग भाव ही बन्ध का कर्त्ता है, जो इस जीव मे पैदा होता है।

सभी कार्य दुनिया के करलो, राग भाव का लेश न हो।
कर्मोदय है निमित्त कारण, स्वामी भाव न मन मे हो ॥२४३॥

राग भाव ही बन्ध का मुख्य कारण है, अत जिसके पर पदार्थो के प्रति किन्चित मात्र भी राग भाव न हो वह बन्धन मे नही फसना। सभी कार्य कर्म फल है अत उन कार्यो मे स्वामी बुद्धि रख कर यह कार्य मैने किया है ऐसा चिन्तन मिथ्यात्व है, क्योकि ज्ञाता दृष्टा स्वभाव वाला आत्मा किसी भी कार्य का कर्त्ता बने यह आत्मा के स्वभाव से विपरीन है।

अज्ञान भाव से मोह उपजता, मोह भाव से हो अज्ञान।
मोह भाव का नाश किये ही पैदा हो तुझ मे सद्ज्ञान ॥२४४॥

किसी वस्तु से मोह भाव ही गाठें पैदा करता है।
ग्रन्थि बना यह जीव वस्तु से बधा हुआ ही रहता है ॥२४५॥

उसी वस्तु से मोह भाव जब जीव यह ना रखता है।
ग्रन्थि जीव की खुल जाती है बन्धन भी मिट जाता है ॥२४६॥

यह जीव अज्ञानी होने के कारण पर पदार्थो से मोह करता है। तथा मोह जितना तीव्र होता है अज्ञान भी उतना ही अधिक होता है, अत यदि सद्ज्ञान प्राप्त करना है तो मोह का नाश करो।

किसी वस्तु से मोह करने का अर्थ उस वस्तु के साथ बध जाना है। वह बन्धन एक ग्रन्थि है जो कि जीव को बाघ कर रखती है, लेकिन यह जीव जब उस वस्तु से अपना मोह भाव समाप्त कर देता है तब ग्रन्थि खुल जाती है और बन्धन समाप्त हो जाता है।

शराबी की ससारी जीव से तुलना—

जैसे मद पी तीव्र नशे मे जीव यह निज को भूले।
निज भार्या को बहिन समझले बहिन साथ रमना चाहे ॥२४७॥

निज घर को वह घर ना समझे नली गली में पड़ा रहे।
निज हितकारक वस्तु फेकदे अहित जनो से प्यार करे ॥२४८॥

जो व्यक्ति अधिक शराब पी लेता है वह स्वय को भी भूल जाता है। वह अपनी पत्नी और वहिन को भी पहचान नही पाता, और अपनी पत्नी को वहिन और वहिन को पत्नी समझ कर उसके साथ रमण करना चाहता है।

वह अपने घर को भी भूल जाता है और नली या गली मे पडा रहता है। वह अपने पहनने के आभूषण और कपड़ो को वाहर फेक देता और ऐसे आदमियो से प्यार करता है, जो उसको वरवाद करने पर तुले रहते है।

अर्थात् शरावी की सभी चेष्टाऐ गलत होती हैं, वह यदि कोई कार्य सही भी करे तो भी ज्ञान पूर्वक न करने के कारण गलत ही माना जाता हैं।

संसारी जीव मोह के नशे मे है—

उसी तरह इस मोह नशे से जीव स्वयं को भूला है।
निज स्वभाव गुण वह ना समझे पर को पाकर फूला है ॥२४९॥
पर को पाना भी संभव ना पर भी सत् स्वरूप ही है।
मोह नशे मे यह अज्ञानी तत्व ज्ञान से रिक्त ही है ॥२५०॥

शरावी की तरह ही यह जीव अनादि काल से मोह के तीव्र नशे के कारण स्वय को भूला हुआ है। वह यह नही जानता कि मैं एक शुद्ध आत्म द्रव्य हूँ। मेरे गुण ज्ञान और दर्शन हैं और स्वभाव से मैं ज्ञाता दृष्टा हूँ। मोह नशे मे शरावी की तरह अज्ञानी वन कर पर पदार्थो से मोह करता है, पर मे ही आसक्त हो रहा है।

लेकिन पर के एक अणु को भी यह अज्ञानी जीव निज नही वना सका, क्योकि प्रत्येक द्रव्य सत् स्वरूप है, अपनी स्वतन्त्र सत्ता को लिये हुये हैं, प्रत्येक द्रव्य निज स्वभाव और गुण युक्त है। कोई भी द्रव्य पर मे अपना दखल नही कर सकता। जीव का पुद्गल के अस्तित्व मे किसी भी प्रकार का दखल नही है और जीव के अस्तित्व मे पुद्गल का दखल नही है। मोह के नशे मे यह जीव अज्ञानी वना हुआ है और तत्व ज्ञान से शून्य हो रहा है।

मोह शुद्ध आत्मा से भिन्न है—

मोह न उपजे शुद्ध आत्म मे पर यह तो अज्ञानी है।
अतः मोह को यह निज माने इसीलिये अपराधी है ।।२५०।।

आत्मा के शुद्ध रूप मे मोह की उत्पत्ति नही होती, मोह एक विकृति है। शुद्ध रूप से शुद्ध रूप कीही उत्पत्ति सभव है, शुद्ध रूप से विकृति की उत्पत्ति सभव नही है। आम के वृक्ष से आम पैदा होते है बबूल के काटे आम के वृक्ष से पैदा नही हो सकते ऐसा जग का नियम है। अत शुद्ध आत्मा ज्ञान और दर्शन रूप ही परिणमन कर सकता है, मोह रूप नही। अत अज्ञान के कारण यह जीव, "मैं मोह करता हू" ऐसा बोलता है। ऐसा बोलना आत्मा के स्वरूप के विपरीत आचरण है। अत यह जीव मिथ्यात्वी बन कर अपराधी बनता है।

बुद्धि का आवरण किस तरह होता है—

नशा न उपजे मनुज बुद्धि मे नशा मद्य मे ही रहता।
ज्ञान आवरण बने बुद्धि मे निमित्त मद है बन जाता ।।२५१।।

अग्नि वास ना शीतल जल मे अग्नि अग्नि मे ही रहती।
अग्नि सूक्ष्म बन, सूक्ष्म नीर कण को वह तो आवृत करती ।।२५२।।

शराबी शराब के नशे से पागल होता हुआ दिखाई देता है। परन्तु मद्य का नशा तो मद्य मे ही रहता है, क्योकि बुद्धि का स्वभाव नशा पैदा करना नही है, बुद्धि तो ज्ञान स्वरूप है नशा स्वरूप नही। मद्य ही नशा मय है बुद्धि नशा मय नही है। लेकिन नशा स्वरूप मद्य के सूक्ष्मकण बुद्धि को आवृत कर देते है, अत इस मानव को नशा उत्पन्न हुआ है ऐसा व्यवहार से कहने मे आता है।

जल स्वभाव से शीतल है वह स्वभाव से विपरीत आचरण कर ऊष्ण नही हो सकता यह निश्चय है, फिर भी अग्नि के सयोग से यह जल गर्म होगया ऐसा कहने मे आता है। वस्तुत अग्नि अग्नि मे ही रहती है जल मे नही। फिर भी अग्नि के सूक्ष्म कण जल के सूक्ष्म कणो को आवृत कर देते है। अत जल गर्म हुआ है ऐसा कहने मे आता है।

मोह और राग का कर्त्ता शुद्ध आत्मा नही है—

शुद्ध आत्म ना राग करे, ना मोह और माया करता।
ताम्रादिक जो स्वर्ण संग में नही स्वर्ण उनका कर्त्ता ।।२५३।।

शुद्ध आत्मा राग, मोह और माया का कर्त्ता नही है। जिस तरह स्वर्ण के साथ तावा, चादी, लौहा आदि विकृतिया होने पर भी न तो स्वर्ण से उनका सम्बन्ध है और न स्वर्ण उनका कर्त्ता है उमी प्रकार मोह, राग, द्वेप, क्रोधमान, माया आदि विकृतियो से न तो आत्मा का स्वभाव सम्वन्ध है और न आत्मा इनका कर्त्ता है। राग द्वेषादिक सभी विकृतियां आत्मा से भिन्न है।

शुद्ध आत्मा का श्रद्धान न होने से जगत् भ्रमण होता है--

निज अशुद्ध भावों से प्राणी भ्रमण जगत् में करते हैं।
शुद्ध आत्म श्रद्धान नहीं तो मोक्ष प्राप्ति विन फिरते हैं ॥२५४॥

यह प्राणी आत्मा के शुद्ध रुप का श्रद्धान न होने से राग द्वेप मोहादिक विकृतियो को निज की मान कर कर्म वन्ध मे फसा हुआ संसार का अनादि काल से भ्रमण कर रहा है। आत्मा का शुद्ध स्वरूप जाने विना अशुद्ध विकृतियों को निज से भिन्न करने का पुरुपार्थ भी नही करता, अत मोक्ष की प्राप्ति के विना इस संसार मे दुखी हुआ भ्रमण कर रहा है।

शुद्ध आत्म का ज्ञान प्राप्त कर सद् दृष्टा वन जाता है।
सम्यग्दृष्टा वन कर प्राणी ज्ञाता दृष्टा रहता है ॥२५५॥

जव यह प्राणी शुद्ध आत्मा मै ही हूँ, यह ज्ञान प्राप्त कर लेता है तव वस्तु स्वरूप का सत्यज्ञान हो जाता है। ऐसे ज्ञानी प्राणी को सम्यग्दृष्टि कहते हैं। सम्यग्दृष्टि सभी कार्यो के व कर्म फलो के कर्त्ता नही वनते केवल ज्ञाता दृष्टा वन कर रहते है।

मनुष्य भव की सफलता कर्म वन्धन से वचना है--

ज्ञाता दृष्टा जव वन जाता वन्धन से वच जाता है।
वन्धन से वच जाना ही इस भव की श्रेष्ठ सफलता है ॥२५६॥

जव यह जीव ज्ञानी वन कर सम्पूर्ण कर्मो व कर्म फलो का ज्ञाता दृष्टा वन कर रहता है तव उसके राग भाव समाप्त हो जाते हैं। राग भाव की समाप्ति से कर्म वन्ध की भी समाप्ति हो जाती है, ऐसे ज्ञानी शीघ्र ही मोक्ष को प्राप्त कर लेते है। मोक्ष को प्राप्त कर लेना ही इस मनुष्य भव की श्रेष्ठ सफलता है।

जो ज्ञाता दृष्टा का अर्थ नही समझते उनकी सभी मान्यताये मिथ्यात्वी है—

यह प्राणी है देह बदलता आयु क्षय हो जाने से।
मेरी तेरी उसकी मृत्यु होती आयु के क्षय से ॥२५७॥

पर के कारण पर की आयु न घटती न बढती है।
आयु के कारण जीवन है आयु क्षय से मृत्यु है ॥२५८॥

मैंने मारा उसने मारा यह मिथ्यात्व कल्पना है।
आयु पर की ले ना सकता मिथ्या मारा कहना है ॥२५९॥

मै पर को जीवन देता हूँ, पर मुझ को जीवन देता है।
आयु पर को दे ना सकता, जीवन फिर कैसे देता ॥२६०॥

सुखी दुखी वह मुझ को करता, सुखी दुखी मै उसे करूं।
सुख दुख कर्मोदय से मिलता, वह मै वाणी मिथ्या है ॥२६१॥

लेकिन जो अज्ञानी प्राणी, मिथ्या मद मे झूम रहे।
कर्म वन्ध वे प्रतिक्षण करते, जगत् भ्रमण को बढा रहे ॥२६२॥

इस ससार मे इस प्राणी के सभी कार्य कर्मोदय से होते है। आयु कर्म के उदय से आयु मिलती है। देव नारको मनुष्य और तिर्यन्च भी देव आयु, मनुष्य आयु आदि आयु कर्म के उदय से बनता है। देव और नारकी जितनी आयु बाँध कर जन्म लेते है उतनी ही भोगते है मनुष्य और तिर्यन्च पूर्ण आयु भी भोगते है और अकाल मे भी उनकी मृत्यु हो जाती है, ऐसा पट्खण्डागम वन्ध विचय नामक आठवी पुस्तक मे वर्णन आया है। लेकिन अकाल मृत्यु होने मे उसके स्वय के कर्म ही कारण है कोई अन्य कारण नही है। अत मै उसको मारता हूँ, वह मुझे मारता है, मै उसको जीवन देता हूँ या वह मुझे जीवन देता है, इस तरह की कल्पना अज्ञान मिथ्यात्व है। इसी प्रकार यह प्राणी सुख और दुख भी कर्म के उदय मे पाता है। कोई भी व्यक्ति किसी को दुखी या सुखी करने मे समर्थ नही है। पिता या माता भी अपने पुत्र को सुखी या दुखी नही कर सकते और न पुत्र अपने माता पिता को सुखी या दुखी कर सकता है, लेकिन यह प्राणी पर के कारण स्वय को सुखी दुखी मानता है तथा अपने कारण पर को सुखी दुखी समझता है, यह भी मिथ्या कल्पना है, और अज्ञान मिथ्यात्व है, अत मिथ्यात्व को दूर करो और जो यथार्थता है, उसे

स्वीकार करो। मिथ्यात्व के कारण ही यह जीव नरक निगोद का वन्ध करता है और असख्य दुखो को भोगता है।

शुभ और अशुभ वन्ध होने के कारण जीव के भाव है—

हिंसादिक पाचो पापो से अशुभ बन्ध ही होता है।
सत्य अहिंसादिक से प्राणी बन्धन शुभ का करता है ॥२६३॥

इनमें भी भाव प्रबलता है जो कर्मबन्ध का कारण है।
भाव नहीं हिंसा भी नही और बन्धन भी ना बनता है ॥२६४॥

भाव वस्तु से करता है वस्तु आश्रित बन जाता है।
लेकिन वस्तु से बन्ध नहीं, बन्धन भावों से होता है ॥२६५॥

हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह यह पाच पाप है क्योकि जीव जब हिंसादिक कुप्रवृतिया करता है तब पाप के मापानुसार तर तम रूप मे कषायो का प्रादुर्भाव होता है। सभी पापो मे क्रोध, मान, माया, लोभ चारो कषायो का ही लघु या भारी रूप से अस्तित्व पाया जाता है, नव नोकषायो मे से भी किन्ही पाच का भी अस्तित्व पाया जाता है। इन कषायो से और नो कषायो से कर्म बन्ध होता है।

जब यह जीव अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरीग्रह इन पाच धर्म के आलम्बनो का पालन करता है तब उसको शुभ बन्ध होता है। लेकिन आत्मज्ञानी यदि इस धर्म के आलम्बनो का पालन करता है तो कर्म क्षय भी होता है।

इन पाँच पाप के और पाँच धर्म के आलम्बनो मे जीव के जो भाव बनते है उन्ही से शुभ या अशुभ वन्ध होता है बिना कषायपूर्ण भावो के यदि पाप या पुण्य का कार्य हो जावे तो वन्ध का कारण नही बनता अत वन्ध होने मे भाव ही मुख्य कारण है।

क्रोधादिक भाव आत्मा का आवरण किस तरह करते है—

क्रोध प्रकट जब होता है आभामण्डल रक्तिम बनता।
वह आभा कर्मवर्गणा है जो आत्म प्रदेशो को ढकता ॥२६६॥

हर प्रदेश आत्म का ज्ञानी है आवरण ज्ञान का ही होता।
इस विधि कषाय अरु मोह यह आवरण आत्म का हैं करता ॥२६७॥

आत्म यह अज्ञानी बन विपरीत स्वभावी बनता है।
आचरण बनें उसके मिथ्या जिससे कर्मों से बंधता है ॥२६८॥

अज्ञान आत्म का दूर करो, सम बनो मोह को दूर करो।
बस यही मार्ग है सत्पथ का जिससे बन्धन को दूर करो ॥२६९॥

आत्मा ज्ञान दर्शन स्वरूप है उसके ज्ञान दर्शन आदि गुण अनन्त शक्ति रूप है। अज्ञान और बन्ध अवस्था मे भी आत्मा के गुण आत्मा मे ही रहते है आत्मा से पृथक नही होते, लेकिन वे गुण ढक जाते है और विपरीत स्वभावी हो जाते है। जिस प्रकार अग्नि से जल का शीतल स्वभाव ढक जाता है उसी प्रकार क्रोधमान माया लोभ कषायो से और नोकषायो से आत्मा के गुण ढक जाते है।

जब यह जीव क्रोध करता है तब उसका मुख, नेत्र और उसका आभा मण्डल रक्तिम बन जाता है। और उस स्थान की कर्मवर्गणाये आत्मा के चिपक कर उसके गुणो को आवृत कर देती हैं, जिस तरह दुग्ध और पानी के सूक्ष्मकण मे अवगाहशक्ति के कारण एक दूसरे के साथ प्रवेश कर जाते है उसी तरह यह कर्मवर्गणाये आत्म प्रदेशो के साथ प्रवेश करती है।

आत्मा का हर प्रदेश ज्ञान गुण वाला है और उसके प्रदेश ही इन कपायो के कारण आवृत होते है। आत्मा के ज्ञान गुण के ढक जाने के कारण आत्मा विपरीत स्वभावी बनकर विपरीत आचरण करता है।

भगवान जिनेन्द्र ने यह उपदेश दिया है कि सम अवस्था उत्पन्न कर राग द्वेष मोहादिक से बचो और अपने कर्म-बन्धनो को तोड दो।

शुद्ध आत्मा की दृष्टि ही भवसागर से तैराने मे मदद करती है—

शुद्ध आत्म की दृष्टि बनालो सम्यग्दृष्टा बन जावो।
शुद्ध आत्म को प्राप्त करो तो भवसागर से तिर जावो ॥२७०॥

सभी दान अरु भक्ति भाव व्रतशील बन्ध के कारण है।
आत्म ज्ञान बिन स्वर्ग मिले पर मोक्ष हेतु ना बनते है ॥२७१॥

मै द्रव्य और स्वभाव से शुद्ध आत्म द्रव्य हूँ। मेरे शुद्ध स्वभाव मे राग द्वेपादिक विकृतियाँ नही है। इस प्रकार द्रव्य दृष्टि और स्वभाव दृष्टि रखने से ही सम्यग्दर्शन पैदा होता है, क्योकि जो शुद्ध दृष्टि प्राप्त करता है वह विकृतियो को अपने आप से भिन्न मानता है और विकृतियो को दूर करने मे ही यह जीव भवसागर को पार कर मोक्ष प्राप्त करता है।

जब तक आत्मा के शुद्ध रूप को यह जीव नही समझता, शुद्ध आत्मा और रागादिक विकृतियो का भेदज्ञान इसको नही होता, तब तक यह जीव अज्ञानी और मिथ्या दृष्टि है। अत. ऐसा जीव दान और भक्ति भाव को ही धर्म मानता है, परन्तु कर्मक्षय तो आत्म ज्ञान के बिना होना सभव नही है, और कर्मक्षय के बिना मोक्ष की प्राप्ति नही होती, अत दानादिक के भावो से स्वर्ग तो प्राप्त हो सकता है पर मोक्ष नही मिलता।

रागादिक विकृतिया आत्मा की नही है —

आत्मा स्वभाव ज्ञातादृष्टा, गुण, ज्ञान और दर्शन उसके।
फिर भाव दूसरे है जितने, वे आत्मा के ना हो सकते ॥२७२॥
रागादिक विकृतियां सारी, आत्मा से न्यारी निश्चय से।
कर्मोदय से उत्पत्ति है, है नाश कर्म नश जाने से ॥२७३॥

आत्मा स्वभाव से ज्ञातादृष्टा है, ज्ञान और दर्शन उसके गुण है। प्रत्येक द्रव्य का अस्तित्व उसके स्वभाव और गुण के कारण ही है। द्रव्य का स्वभाव और उसके गुण उससे कभी पृथक् नही हो सकते है और जो उससे पृथक् हो जाते है वे उसके निज नही होते, अर्थात् वे उस द्रव्य मे पैदा नही होते। अत यह स्वतः सिद्ध होता है कि रागद्वेष मोहादिक विकृतिया आत्मा मे पैदा नही होती है, वे आत्मा के साथ उसी तरह रहती है जिस तरह स्वर्ण के साथ ताबा पीतल वगैरह रहते है। रागादिक पर भाव है, वे कर्मोदय से पैदा होते है और कर्म के नष्ट हो जाने पर नष्ट हो जाते है।

विकृतियो के साथ रहने पर भी शुद्धात्मा शुद्ध ही है—

अत बन्ध से बचने को निज शुद्धात्मा को पहचानो।
रागादिक तो विकृतियाँ है, निज को शुद्धात्म मानो ॥२७४॥
जो निर्मलता जल की जाने, वह डाल कतकफल शुद्ध करे।
जो निजात्म निर्मलता जाने वन सम उसको प्राप्त करे ॥२७५॥
जल मे जो लहरें उठती है वायु ही उसका कारण है।
समता यदि आत्मा मे ना तो राग द्वेष ही कारण है ॥२७६॥

बन्ध मे वे ही जीव बच सकते है, जो निज शुद्धात्मा को पहचानते है, अनुभव करते है तथा ज्ञान मे ही विचरण करते है। ऐसे जीव—

रागादिक विकृतियो को भेदज्ञान द्वारा पृथक् जानकर उनको पैदा होने से रोक देते है ।

जिस प्रकार वायु के कारण से ही जल मे लहरे उठती है, उसी प्रकार रागद्वेष के भाव, जो पदार्थो मे इष्ट अनिष्ट कल्पना करने से पैदा होते है, आत्मा मे समता नही रहने देते अत , ज्ञानी आदमी पदार्थो मे इष्ट अनिष्ट कल्पना को समाप्त कर देते है। लेकिन जो जल की और आत्मा की निर्मलता को दृष्टि मे रखता है वह ही जिस तरह कतक फल डालकर जल को निर्मल बना लेता है उसी तरह इष्ट अनिष्ट कल्पना को दूर कर आत्मा मे समता भाव पैदा कर उसको शुद्ध बना लेते है, अर्थात् शुद्धात्मा बन जाते है ।

आत्मा मे राग द्वेष पर कारण से है –

मैं निश्चय से शुद्ध आत्म हूँ, शुद्ध शुद्ध को ही कहते ।
स्फटिक मणि है शुद्ध स्वयं, पर कारण से रंगीन दिखे ।।२७७।।

स्फटिक मणि रंगीन दिखे, ना स्वयं वह कारण रंग का ।
राग द्वेष मय आत्म दिखे तो स्वयं न कारण विकृति का ।।२७८।।

आत्मा स्वभाव से शुद्ध द्रव्य है अत जो आत्मा की राग द्वेष मय प्रवृत्ति दिखाई देती है वह चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से आत्मा की अज्ञान अवस्था के कारण है। जैसे स्फटिक मणि मे स्वय कोई रग नही होते लेकिन यदि उसके सामने कोई रगीन पदार्थ आवे तो वह रगीन दिखाई देती है, वस्तुत स्फटिक मणि तो शुद्ध ही है। स्फटिक मणि की तरह आत्मा शुद्ध है। जो आत्म दृष्टि रखता है वह शरीर को मन को वाणी को और कर्मफल को निज से भिन्न जानकर अपने शुद्ध स्वभाव पर पूर्ण विश्वास करता है। वह वर्तमान पर विश्वास करता है, न तो भूत चिन्तना कर दुखी होता है और न भविष्य की मिथ्या कल्पना करता है। वह केवल ज्ञाता दृष्टा बनकर रहता हे वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र तीनो का पालन करता है और मोक्ष पथ पर अग्रसर होता है।

निज स्वरूप की पहचान से कर्म सन्तति रुकती है—

अनादि काल से बीज वृक्षवत् कर्म सन्तति चलती है ।
निज स्वरूप पहचान हुए बिन यह सन्तति ना रुकती है ।।२७९।।

जिस प्रकार मस्तिष्क मे विकृति होने से मनुष्य उन्मादी वनकर विकृत चेष्टाये करता है। उसी प्रकार मोहाच्छादित यह अज्ञानी जीव स्वय को भूल कर पर मे ही आसक्त हो रहा है। कर्म के उदय से जो भाव वनते है उनको कर्म के निमित्त मे न मान कर स्वय उन भावो का कर्त्ता वन जाता है। कर्त्ता वुद्धि आत्मा के स्वभाव से विपरीत है अत. मिथ्यात्वी वनकर कर्म वन्ध करता है। मिथ्यात्वी का अर्थ है कि मोह मे इतना गाफिल है कि उसको अपनी सुधि ही नही है। जिस तरह कोई पुरुष किसी सुन्दर स्त्री मे इतना कामासक्त हो रहा है कि उसको अपनी व अपने घर की, अपने कारोवार की, अपनी प्रतिष्ठा की विल्कुल भी सुधि नही है। अर्थात् सुन्दर स्त्री की आसक्ति के कारण वह खोया हुआ है। एक दूसरा पुरुष धन के लोभ मे इतना आसक्त है कि उसको धन के सिवा कुछ भी दिखाई नही देता, यहा तक कि अपनी स्त्री, कुटुम्ब व अपने स्वास्थ्य का भी ध्यान नही करता, वह धन प्राप्त करने के लिये दूसरे की हत्या भी कर देता है, मायाचारी करके दुनिया को ठगता है, चोरी और डाकाजनी करता है।

यह एक सासारिक उदाहरण समझने हेतु है, अर्थात् चाहे वह स्त्री हो, धन हो, राज्य हो, भूमि हो, पद हो उसका मोह और लोभ मनुष्य को सत्पथ से गिरा देता है। मोह और लोभ, भावो से चेतन अचेतन का वन्धन करने वाले है। मनुष्य भव प्राप्त करने के फलस्वरूप जो मनुष्य को ज्ञान प्राप्त होता है उसका भी यह सही उपयोग मोह लोभादिक के कारण नही कर पाता है, तव अनादिकालीन जो मोह लोभादिक विकृतिया सत्ता मे पडी हुई है, उनसे निकल पाना तो अशक्य है।

अत जव मोह की सत्ता अन्त कोडा कोडी सागर रह जाती है अर्थात् मोह का घन पटल कम हो जाता है तव ही यह जीव स्व और पर को पहचान पाता है। जव ही वस्तु स्वरूप को समझता है अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को समझता है तथा कर्त्तृत्व भाव का त्याग करता है। इस तरह जीव की अज्ञान अवस्था हट जाती है और अज्ञान अवस्था मे वन्धे हुए सभी कर्मो की निर्जरा हो जाती है और वह सुखी वन जाता है।

तत्व ज्ञान मिथ्यात्व दूर करने के लिये आवश्यक है—

जव तक तत्वो का ज्ञान और श्रद्धान जीव के ना होता।
तव तक मिथ्यात्व उदय उसके अरु मोह पटल घन ही रहता ॥२८०॥

मिथ्यात्व उदय जब रहता है स्व पर का ज्ञान नहीं होता।
स्व पर का ज्ञान नही जिसको संसार भ्रमण करता रहता ॥२८१॥

जिस जीव को जीव अजीव आस्रव सवर निर्जरा बन्ध ओर मोक्ष इन सात तत्वो का तथा पुण्य और पाप का यथार्थ ज्ञान व श्रद्वान नही होता, तव तक वह मिथ्यात्वी है। मिथ्यात्वी जीव स्व पर के ज्ञान से रिक्त रहता है। जिसको स्व का ज्ञान अर्थात् अपने ज्ञाता दृष्टा स्वभाव का ज्ञान, ज्ञान दर्शन आदि गुणो का ज्ञान नही होता तथा पर राग द्वेषादिक विकृतियो का ज्ञान नही होता वह निज आत्मा मे रमण नही कर सकता तथा रागद्वेषादिक विकृतियो को हटाने का पुरुषार्थ भी नही कर सकता, अत वह ससार भ्रमण ही करता रहता है।

विकृतियो को समझने से सम्पूर्ण पूर्व वद्ध कर्म निष्क्रिय हो जाते है—

संसार अवस्था में अज्ञानी मनुज जन्म मे उन्मादी।
इन दोनो की एक दशा है यह दोनो सम अपराधी ॥२८२॥

यह दोनो विकृति हटने से, जब वन जाते हैं ज्ञानी।
अपराध क्षम्य उनके होते है, क्षम्य वने सब नादानी ॥२८३॥

इसीलिये तो समयसार मे कुन्द कुन्द ने यह कहा।
सम्यग्दर्शक भोग करे तो भी वन्धन ना बढ़ा रहा ॥२८४॥

ससारी प्राणी और उन्मादी मनुष्य की एक ही दशा है। उन्मादी अपनी अज्ञान अवस्था के कारण मारण ताडन अनेक तरह के दु ख भोगता है, उसकी समाज और देश मे किसी प्रकार की इज्जत नहीं रहती, वह नगा फिरे या कपडे पहने, वह अच्छा भोजन करे या रूखा-सूखा खावे उसका कोई ध्यान नही करता। इसी प्रकार यह ससारी प्राणी मोह रूपी आवरण से अज्ञानी वनकर अपने स्वभाव से विपरीत आचरण को निज मानता है, अपने गुणो को भी वह भूल रहा है और अपने गुणो से विपरीत क्रोधादिक विभावो को निज मान रहा है।

अतः तत्व ज्ञानी बन जावो गुण स्वभाव सम्यक् जानो।
राग द्वेष अरु मोहादिक का कर्त्ता निज को ना मानो ॥२८५॥

अज्ञान तुम्हारा हट जावे, ज्ञाता दृष्टा तुम तभी वनो।
संसार स्वचालित है सारा, यह तर्क प्रभु का सत्य गिनो ॥२८६॥

जो शरीर गतिविधियां हैं, उनके कर्त्ता तुम नहीं, सुनो।
कर्मोदय वश जो भाव बनें, कर्त्ता उनके ज्ञानी न वनो ॥२८७॥

जो ज्ञान भाव परिणमन वने, उसका कर्त्ता निज को मानो।
अज्ञान भाव शुद्धातम के, यह तर्क अकारक है जानो ॥२८८॥

अज्ञान भाव शुद्धातम के, यदि वन सकता हो भव्य ! सुनो।
अरिहन्त सिद्ध आत्मायें भो ना निर विकार हो, यह सुनो ॥२८९॥

तमनाशक सूर्य जगत् मे है तम का उत्पादक नही, सुनो।
फिर ग्रहण समय तम सूर्य करे यह कहना है अज्ञान, सुनो ॥२९०॥

अत भाव जो ज्ञान हीन, वे शुद्ध आत्म कृति नही, सुनो।
जो मोह राग वश ग्रहण लगा अज्ञान वही है भव्य सुनो ॥२९१॥

अज्ञान अवस्था ही वन्धन का मुख्य कारण है, शरीर रूपी है, आत्मा अरूपी है, शरीर पुद्गल है आत्मा चेतन है, उपयोग स्वरूप है, दर्शन और ज्ञान मय है। आत्मा निज हित और अहित को जानता है, पुद्गल मे ज्ञान ही नही है फिर हित अहित कैसे जानेगा। जब, आयु समाप्त हो जाने पर जीव इस शरीर को छोड कर अन्य शरीर धारण कर लेता है तव चेष्टा रहित ज्ञान रहित स्व हित और अहित का न जानने वाला स्पष्ट दिखाई देता है। अत शरीर अजीव है। आत्मा रूप रहित होने से नेत्र से नही देखा जा सकता है, आत्मा को अतिन्द्रिय ज्ञान से ही देखा जा सकता है, जाना जा सकता है, अनुभव किया जा सकता है। जो निज आत्मा का अनुभव करते है वे ज्ञानी कहलाते हैं, सम्यग्दृष्टि कहलाते है। आत्मा अनादि अनन्त है उसका नाश कभी नही हुआ केवल शरीर का नाश होता है। आत्मा अज्ञान के कारण जैसे परिणामो के साथ शरीर मे रहता है वैसे ही लेश्या वनती है और गति का वन्ध होता है। ज्ञानी आत्मा निज का ज्ञाता दृष्टा स्वरूप जानता है, अत वह सकल्प विकल्प रहित होकर निज स्वभाव मे स्थित हो जाता है, जिसके कारण कर्मो का वन्ध रुक जाता है और वह पूर्व बद्ध कर्मो का क्षयकर मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

यदि यह आत्मा सम्पूर्ण पर-पदार्थो के साथ मोह भाव समाप्त कर दे तो वह सम्पूर्ण पूर्व वद्ध कर्मो को एक श्वास लेने उतने से समय मे क्षय कर सकता है।

आत्मज्ञान और पर पदार्थो का ज्ञान एक साथ होता है। अन्धकार का नाश और प्रकाश का उद्भव एक साथ होता है। आत्मज्ञान का प्रकट होना और अज्ञान का नाश एक साथ होता है। एक कण मे भी राग होना बन्धन है।

सभी कार्य क्रम वद्ध पर्याय से स्वचालित ससार मे द्रव्य क्षेत्र काल भाव के अनुसार होते है।

कर्मोदय से कर्मफल पैदा होता है। इष्ट वियोग और अनिष्ट सयोग भी कर्मफल है, अत किसी भी कर्मफल मे, क्यो हो गया, कैसे हो गया, ऐसा होता तो ऐसा होता, ऐसा होगा तो ऐसा होगा। इस तरह के विकल्प शुद्ध ज्ञान की हीनता के द्योतक है, अत वन्धन से मुक्ति पाने मे वाधक है।

मै ऐसा करूँगा, मैंने ऐसा किया, मैं ऐसा कर रहा हूँ, उसने ऐसा किया, वह ऐसा कर रहा है, वह ऐसा करेगा यह सव मिथ्या सकल्प है, यह भी शुद्ध ज्ञान मे ही हीनता के द्योतक है, और वन्धन से मुक्त होने मे वाधक है।

अत सकल्प और विकल्प रहित ज्ञाता दृष्टा वन कर रहो। यह मत्र वन्धन से वचने का व पूर्व वद्ध कर्मो की निर्जरा करने का मुख्य कारण है।

जीवो के जिस विध भाव वने लेश्या वैसी ही होती है।
लेश्यानुसार आभामण्डल की रचना भी वन जाती है॥१॥

कृष्ण नील कापोत अशुभ गति शुभ गति शेष वनाती है।
आभामण्डल रगीन दिखे उस विध लेश्या रग वाली है॥२॥

रग तो पुद्गल का ही गुण है अत भाव सव पुद्गल है।
भावो से कर्मवन्ध होता इसलिये कर्म भी पुद्गल है॥३॥

जो गुण स्वभाव से भिन्न वने वह भिन्न सदा ही होता है।
इस सत्य युक्ति को सत्य गिनो यह सत्य मोक्ष को दाता है॥४॥

ज्ञान भाव भी भाव कहे पर वे ना पर कारण मे है।
गुण स्वभाव से भिन्न नही अत भिन्न वे तो ना है॥५॥

मोक्ष अधिकार

वन्धन से मुक्ति प्राप्त करने मे सुख का अनुभव होता है—

वन्धन से जब मुक्त बने सुख अनुभव करता है प्राणी।
कर्मों से जब मुक्त बने निर्वाण प्राप्त करता ज्ञानी ॥२६२॥

वन्धन दुख की जड है, द्रव्य वन्धन और भाव वन्धन दोनो ही दुख के कारण है। एक मनुष्य स्वेच्छा से एक वर्ष भी अपने मकान मे वन्द रह सकता है, उसे इसमे कोई दुख नही होता वह इसको वन्धन नही मानता, लेकिन उसी मनुष्य को आदेश देकर एक घटे भी मकान से वाहर जाने पर रोक लगा दी जावे तो वह वन्धन का अनुभव करता है, और वाहर जाने की इच्छा करता है, वाहर जाने पर सुख का अनुभव करता है। अर्थात् वन्धन से छूटने मे सुख का अनुभव करता है।

इसी प्रकार यह ससारी जीव कर्म वन्धन से इस ससार मे भ्रमण कर रहा है। इस जीव के जो कर्त्ता कर्म वुद्धि है वह ही वन्धन है। यदि आप किसी कार्य के कर्त्ता वन गये तो आपकी ममत्व वुद्धि उस कार्य के प्रति अवश्य होगी, और जितनी ममत्व वुद्धि अधिक होती है उतना वन्धन दृढ होता है। अतः कर्म को निजकृति मानना ही वन्धन है, और यह कर्म वन्धन है।

कर्म वन्धन से जव यह जीव मुक्त हो जाता है तव उसको निर्वाण पद की प्राप्ति हो जाती है उसको अनन्त सुख की प्राप्ति हो जाती है वह सदा सदा के लिये दुख से छूट जाता है।

प्रश्न— क्या ससारी जीवो को यह मालुम है कि वे वन्धन मे है और नही तो क्यो नही।

उत्तर— दोनो तरह के ही ससारी है, कुछ को यह मालुम है कि वे स्व स्वरूप को अज्ञान वश नही जानते, अत स्वचालित इस ससार के कार्यो मे कर्त्तृत्व भाव रख कर राग पैदा होने से ससार वन्धन या कर्म वन्धन मे है। लेकिन वहुत ही कम जीवो को छोड कर शेप जीव वन्धन है, यह भी अनुभव नहीं करते।

जो बन्धन ही अनुभव नही करेगा वह किस विध छूट सकता है अर्थात् नही छूट सकता ।

ससारी जीवो को बन्धन का ज्ञान न होने का कारण अज्ञान है जो कि मोहनीय कर्म के उदय के निमित्त से पैदा होता है। यदि किसी राजकुमार की पूर्व स्मृति नष्ट हो जावे और उसको किसी किसान की झोपडी मे रख दिया जावे तो वह वहाँ ही रहने लगता है और राजकुमारपने को भूल जाता है, उसी प्रकार मोह के तीव्र उदय से यह जीव पूर्ण रूप से अज्ञानी बन कर रहता है, उसको स्व और पर का अपने गुण व स्वभाव का भी ध्यान नही है, यही कारण है कि उसको बन्धन का ध्यान नही है।

बन्ध और सब कारण उसके तुम जानो ओ अज्ञानी ।
शुद्ध आत्म परिचय कर उसमे स्थित रह तू बने ज्ञानी ॥३९३॥

कर्म बन्ध क्यो होता है, क्या कारण है, कि यह जीव अनादि काल से कर्म बन्ध मे फँसा हुआ है, कर्म बन्ध किस प्रकार होता है। इन सब प्रश्नो के उत्तर बन्ध अधिकार मे दिये गये है। 31914

सक्षेप से यहाँ भी समझाते है। देखिये बन्धन दो प्रकार का होता है एक द्रव्य बन्धन और दूसरा भाव बन्धन । शरीर को किसी वस्त्र या रस्सी से बाध दिया जावे काठ मे दे दिया जावे साकल आदि से बाध दिया जावे यह शरीर का द्रव्य बन्धन है। प्रतिज्ञा करके कोई पद सम्हालना, सप्त पदी द्वारा पति–पत्नि के रूप मे हो जाना, किसी को कोई वचन दे देना यह सब भाव बन्धन है, क्योकि जब तक कर्त्तव्यवश या स्वार्थवश यह मनुष्य अपने आपको बन्धा हुआ मानता है तभी तक वह बन्धा हुआ है, जब यह बन्धन की शृखला तोडकर अपने आपको स्वतन्त्र समझ लेता है तब वह बन्धन मुक्त नही रहता। बन्धन कौन कर रहा है केवल भाव ! भावो की प्रधानता है, भावो से ही बन्धन और भावो से ही मुक्ति मिलती है।

कर्मो का बन्धन भी भावो से ही होता है। कर्मोदय के निमित्त से जो भाव बनते है उनके निमित्त से ही कर्म वर्गणाये कर्मरूप परिणमन करती है, शुभ भावो से शुभ कर्मरूप और अशुभ भावो से अशुभ कर्म-रूप परिणमन करती है। कर्म वर्गणायें आत्म प्रदेशो के साथ रहने लगती

है और इस प्रकार आत्मा के साथ कर्मों का वन्धन हो जाता है। (आत्म प्रदेशों मे अवगाह शक्ति है अत वह कर्म वर्गणाओ को रहने को अवकाश दे देता हैं)

जव एक छोटी से छोटी वस्तु मे भी राग के भाव होते है अर्थात् उसको निज मान लिया या उसको ग्रहण करने के भाव हो गये तो यह उस वस्तु के साथ वन्धन है। ससार वन्धन भी यह ही है, ससार के एक कण को भी यह जीव जव तक निज मानता रहता है तव तक उसके ग्रन्थि रहती है, वन्धन रहता और उसको ससार भ्रमण करना पडता है। अत यदि ससार से मुक्ति चाहते हो तो ससार की सम्पूर्ण वस्तुओ को पर मानकर उनका त्याग करो और 'एक अणु नही मेरा जग मे' इस सिद्धान्त के अनुसार संसार के सम्पूर्ण वन्धनो से, निजज्ञाता दृष्टा स्वरूप को समझते हुए, अपने को मुक्त करो। जव भावो से आप सम्पूर्ण वन्धनो से मुक्त हो गये तव ही आप पूर्ववद्ध कर्मो को खिरा कर मुक्त होगे। तव ही आपको अनन्त चतुष्टय वैभव प्राप्त होगा।

निज का ज्ञाता दृष्टा मानकर रहने से मुक्ति का मार्ग होता है—

जो कर्म जगत मे होते हैं उनका कर्त्ता तू नही, मान।
जग के सव कार्य स्ववालित है कर्तृत्व त्यजो, तुम यह जान ॥३६४॥
निज ज्ञाता दृष्टारूप मान, कर्त्ता ज्ञाता को ठीक जान।
तू गुण से है केवल ज्ञायक, इस विधि कर्त्ता ना यह मान ॥३६५॥
इस सत्य तत्व को तू पिछान, पुद्गल मय तू ना अर्थ जान।
पुद्गल पुद्गल से हो पोषित, सव कर्म है पुद्गल यह मान ॥३६६॥

निर्वाण प्राप्त करने के लिए यह मनुष्य किसी कार्य का कर्त्ता न वने। कारण यह है कि प्रत्येक द्रव्य अपने स्वभाव व गुणो के अनुसार द्रव्य क्षेत्रकाल भाव के अनुसार परिणमन करता रहता है। उस द्रव्य मे जिस रूप परिणमन करने की योग्यता होती है उसको वैसे ही निमित्त मिल जाते हैं और उस रूप परिणमन हो जाता है। पहाड और रेगिस्तान किसने वनाये—यह सव स्व परिणमन है और परिणमन के अनुसार कार्य दृष्टिगोचर होते हैं। मनुष्य शरीर भी द्रव्यक्षेत्र काल भाव के अनुसार द्रव्य परिणमन ही है, शरीर के कर्त्ता माता—पिता नही हैं क्योकि वे तो एक अगुली भी नही वना सकते। आत्मा के भी माता—पिता कर्त्ता नही हैं क्योकि वह अनादि अनन्त अविनाशी है। अत. यह मेरा वेटा है, यह कहना मिथ्यात्व है। रूई किसने वनाई मिट्टी किसने वनाई किसी ने नहीं, इनका भी अनादि कालीन अस्तित्व है और वह भी अनन्तकाल तक रहेगें।

शरीर को तू ने स्वय ने बनाया नही तेरे माता–पिता ने बनाया नही फिर उस शरीर मे जो भूख प्यास सर्दी गर्मी रक्त सचार श्वास क्रिया वगैरह होती है वह भी पदार्थो का स्व परिणमन ही है। अत इन क्रियाओ का भी तू कर्त्ता नही है। और इस प्रकार जो आत्म प्रदेशो मे कम्पन होता है उस कम्पन के निमित्त से अगो मे हलन चलन जो क्रिया होती रहती है उसका कर्त्ता भी आत्मा नही है, अत कर्त्ता कर्म प्रवृत्ति के भेद को समझकर अपने आप को केवल, ज्ञान भाव का ही कर्त्ता मानना चाहिये कर्म और कर्म फल का नही।

कर्त्तृत्व भाव राग पैदाकर वन्धन करता है।

कर्मो का कर्त्ता बनने से हो राग उदय पर द्रव्यो मे।
वह राग वन्ध का कारन है तू छोड़ राग पर द्रव्यो से ॥२९७॥

जिस घर से तेरा राग रहे तू रहे उसी घर मे जाकर।
यह राग करे घर से वन्धन इसलिये राग ही है बन्धक ॥२९८॥

तू चेतन है उपयोग रूप पर पुद्गल है रक्तादि रूप।
तू रूप रहित उस सहित रूप का किस विधि से हो एक रूप॥२९९॥

कर्मो का कर्त्ता बनने से कर्म के प्रति राग भाव पैदा होता है, जो कि वन्धन का कारण है, अत तू यह समझ कर कि पर पदार्थो का कर्त्ता होना सम्भव नही है, अत मै इनका कर्त्ता ही नही हू तू पर पदार्थो से राग भाव का त्याग कर दे।

क्योकि जिस घर मे तेरा राग होता है उसी घर मे तू रहता है, तू उस घर से राग करता है और उसका वन्दी बना हुआ है, अत वास्तविक वन्धक कर्त्ता और राग के भाव है।

तू तो चेतन है सुख दुख का अनुभव करने वाला है। उपयोग लक्षण वाला है, और पर जो पुद्गल है वह वर्ण वाला होता है, तू तो अरूपी है। पुद्गल चेतन भी नही है और उपयोग लक्षण वाला भी नही है, अत चेतन और अचेतन का कभी भी एक रूप नही हो सकता। शरीर मे रस रक्त मास मे अस्थि ओर वीर्य सब पुद्गल है वे सब रूपी है, आत्मा अरूपी है इसीलिये दोनो का एक रूप नही हो सकता।

ससारी जीव की उन्मादी मनुष्य से तुलना—

जिस विधि उन्मादी की चेष्टा उन्माद पूर्ण ही होती है।
उन्मादी ही उनका कर्त्ता सब ज्ञानी जन की उक्ति है ॥३००॥

उन्मादी की चेष्टा विकृत, उन्माद ही कारण है उसका ।
स्वाभाविक मानव विकृतिहीन आचरण नही उन्मत्तों का ।।२०१।।

उन्माद अवस्था, स्वभाविक मानव से तो है पृथक् सही ।
उस विधि ही शुद्ध आत्मा से मोहादिक विकृति पृथक् कही ।।२०२।।

आत्मा के अन्दर पैदा होने वाले भाव आत्म भाव होते है, विभाव भी आत्मा मे पैदा होते है फिर भी विभाव आत्मा के भाव नही होते यह समझिये ।

एक आदमी पागल हो जाता है, उसकी चेष्टाये विकृत होती है । कोई-कोई चेष्टा ठीक होती है, लेकिन अधिकतर विकृत ही होती है । पागल होने के पहले जो आदमी था, अब भी वही आदमी है, लेकिन पागलपन के समय जो उसकी चेष्टाये होती है उन चेष्टाओ का उत्तर-दायित्व उस आदमी का नही मानते, बल्कि उसमे पागलपन के रूप मे जो विकृति आई है उस विकृति को पागलपन के समय की चेष्टाओ का उत्तरदायी मानते है । क्योकि जब मनुष्य अपनी स्वाभाविक अवस्था मे होता है तब उसकी चेष्टाये विकृत नही होती ।

अत उन्माद अवस्था जो कि उन्माद जन्य विकृति के निमित्त से पैदा होती है उसका कर्त्ता स्वाभाविक अवस्था मे रहने वाला मनुष्य नही है । स्वाभाविक मनुष्य से वह विकृति पृथक् है ।

इसी प्रकार शुद्ध स्वभाव मे रहने वाला आत्मा क्रोध मान मायादिक व मोह राग द्वेषादिक विकृतियो का कर्त्ता नही है । इन विकृतियो का उत्तर दायित्व मोह और अज्ञान पर है जो इस ससारी जीव मे रहते है । शुद्ध आत्मा इसी प्रकार सम्पूर्ण विकृतियो से भिन्न है ।

पर मे मोह के कारण कर्तृत्व बुद्धि पैदा होती है—

स्वाभाविक गुण से तो मानव ज्ञाता दृष्टा कहलाता है ।
कर्तृत्व भाव ना ज्ञानी के, मोही कर्त्ता बन जाता है ।।२०३।।

आत्मा, स्वभाव से तो केवल ज्ञाता दृष्टा है, अर्थात् इस तीन लोक मे जो कार्य हो रहे है, हुए है या होगे, उन सब कार्यो का केवल जानने वाला और देखने वाला है अत ज्ञेय या दृश्य पदार्थो का कर्त्ता होने का प्रश्न ही नही है । अत ज्ञानी तो इस तत्व को समझ कर वह किसी भी कार्य का कर्त्ता नही बनता, लेकिन मोह के उदय से जो अज्ञानी प्राणी है वे कर्त्ता बन कर कर्म बन्ध करते है । तत्व एव वस्तु

स्वभाव ज्ञाता के अपने ज्ञायक स्वभाव को समझते है अतः वे कर्त्तृत्व भाव नही रखते।

निज स्वभाव का ज्ञाता दृष्टा मोहका क्षय करता है—

इस विधि जो निज गुण स्वभाव अरु द्रव्य रूप का ज्ञाता है।
निश्चय से वह निर्मोही बन कर्मों, का क्षय करता है।।३०४।।
कर्मो का क्षय करने वाला केवलज्ञानी बनता है।
सभी कर्म का क्षय करके वह मोक्ष महल को जाता है।।३०५।।

इस प्रकार जब यह जीव निज गुण और स्वभाव को जान लेता है और अपने आपको केवल ज्ञायक मानता है उसके कर्त्तृत्व भाव न होने से वह पर पदार्थो से मोह नही रखता, इस प्रकार निर्मोही जीव के कर्मो का लेप नही होता तथा पूर्व बद्ध कर्मो का क्षय हो जाता है।

इस प्रकार चारो घातिया कर्मों का क्षय करके यह जीव केवल ज्ञान प्राप्त करता है तथा शेष चारो अघातिया कर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त करता है।

सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र से निज स्वरूप की प्राप्ति—

'सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित का जो प्रतिक्षण पालन करता।
यह तीनो है एक आत्म ही वह निश्चय अनुभव करता।।३०६।।
पर को निज से पृथक् मान कर वह निज मे स्थित होता।
निर्विकल्प ध्यानावस्था से निज स्वरूप को वह पाता।।३०७।।
निज स्वरूप को जिसने पाया निज वैभव भी प्राप्त किया।
निज स्वरूप और निज वैभव पा अविनाशी सुख प्राप्त किया।।३०८।।

मोक्ष पद प्राप्त करने मे जो विशिष्टता वरतनी पडती है वह समझाते है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र मोक्ष प्राप्त करने मे मूल कारण है। कारण यह है कि यह तीनो आत्मा ही है। आत्मा के अस्तित्व उसके स्वभाव और गुणो का ज्ञान होना सम्यग्ज्ञान है ऐसे ज्ञान मे विश्वास करना सम्यग्दर्शन है। अपने स्वरूप का ज्ञान कर उस स्वरूप मे स्थित रहना आत्मलीन हो जाना सम्यक् चारित्र है। इस प्रकार पूर्ण श्रद्धा कर यह निश्चय करता है कि व्यवहार दृष्टि से दर्शन ज्ञान चारित्र तीन है, निश्चय से तो तीनो एक आत्मा ही है।

इस प्रकार सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर स्व व पर का भेद जानता हुआ पर को निज से पृथक् जानता हुआ विना किसी विकल्प के निज का ध्यान कर निज को प्राप्त करता है।

जव निज स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है तव उसको अनन्त चतुष्टम की भी प्राप्ति हो जाती है और इस तरह वह जीव अविनाशी मोक्ष पद प्राप्त कर लेता है।

मोक्ष प्राप्त करने के लिये पुरुषार्थ करना आवश्यक है—

मोक्ष प्राप्त करने मे उद्यम होना वहुत जरूरी है।
मनुज जन्म का लाभ उठालो अवसर यह चिन्तामणि है ॥३०९॥

आपने मोक्ष की अच्छाइया जान ली तथा ससार की बुराइया जान ली। आपका इस तथ्य मे पूर्ण विश्वास हो गया है, आप सम्यदृष्टि वन गये सम्यग्ज्ञान भी हो गया, लेकिन कर्म भार से मुक्त होने के लिये अभी पुरुषार्थ की आवश्यकता है। पूर्व पद्यो मे पुरुषार्थ स्वरूप को समझाया है। यहा आत्मा की प्राप्ति के लिये पुरुषार्थ करना है। दर्शन मोह नष्ट हो चुका है अव चारित्र मोह को दूर करना है।

हे आत्मन् तू स्वय, स्वय को ही प्राप्त करना चाहता है, तूने अनुभव के द्वारा आत्मा को जान लिया है, अव तू अपने आप मे स्थित हो जा और एक अन्तर्मुहूर्त तक स्थित रह, देख कोई विकल्प न आवे। ऐसी निज मे निज स्थिति करना ही सम्यक् चारित्र है। आत्म स्थिति ही तप है, उसे चाहे वन मे करे या चैत्यालय मे करे आत्म स्थिति करनी है। आत्म स्थिति का अभ्यास करने वाला ज्ञानी, क्रोधादिक कषाय व नोकषाय का त्यागी हो जाता है, और तीव्र कर्मोदय के कारण कोई कषाय पैदा भी हो तो वह उसका ज्ञायक वन कर रहता है। आत्म स्थिति का अभ्यास करने वाला भोजन पान वस्त्रादिक मे आसक्ति नही रखता और न उनका परिग्रही वनता है। वह अशुभ और शुभ उपयोग को छोडकर शुद्धोपयोग मे लग जाता है और इस तरह मोक्ष प्राप्ति के लिये पुरुषार्थ होता है।

केवल वन्धन के ज्ञान से वन्धन नही टूटता—

वन्धन रहस्य को जान लिया, कारण उसके सम्यक् जाने।
कारण को निज के पौरुष से ना हटा सके तो क्या जाने ॥३१०॥

वन्धन ना कटता बिन काटे ना ग्रन्थि खुले विन खोले ही।
इसलिये करो पुरुषार्थ भव्य जिससे तुम पावो मार्ग सही ॥३११॥

भवितव्य और निज काल लब्धि को हम ना जानें अज्ञानी।
अतः एक ही मार्ग शेष है, कर पौरुष वन कर ज्ञानी ॥३१२॥

पुरुषार्थ तुम्हारा सम्यक् है तो काल लब्धि निश्चित आनी ।
काल लब्धि जब आयी है तब ही पुरुषार्थ किया ज्ञानी ॥३१३॥

मोक्ष के लिए पुरुषार्थ आवश्यक बतलाने के बाद यह बतलाया जाता है कि सम्यक् प्रकार पुरुषार्थ करो, क्योकि पुरुषार्थ सम्यक् नही हुआ तो लक्ष्य प्राप्त नही हो सकेगा, अत कहते है कि बन्धन का रहस्य उसके कारण जान लेने मात्र से लाभ नही है, सम्यक् पुरुषार्थ आवश्यक है ।

हे भव्य! जन कोई भी बन्धन बिना काटे नही कटता तथा कोई भी ग्रन्थि बिना खोले नही खुलती इसलिए सम्यक् पुरुषार्थ करना आवश्यक है तब ही सत्य मार्ग मिल पायेगा ।

हे भव्य जन ! मोक्ष का पुरुषार्थ न करने वाले अज्ञानी होते है वे काल लब्धि आयेगी तब अपने आप होगा, जैसा भवितव्य होगा वैसा होगा, इस तरह विचार करता है । पर हे भव्य जीव तुमको तो काल लब्धि या भवितव्य का ज्ञान नही है, अत काल लब्धि और भवितव्य को छोडकर सम्यक् पुरुषार्थ करो । तुम्हारा पुरुषार्थ सम्यक् चल रहा है इसका अर्थ यह ही मानो की तुम्हारी काल लब्धि आ गई है क्योकि काल लब्धि आई है तब ही तुम सम्यक् पुरुषार्थ कर रहे हो ।

शुद्ध आत्मा निज स्वभाव प्राप्त करता है—

घृत मे जब पानी छाछ नही वह घृत तब शुद्ध कहाता है ।
जब जल शीतल अरु स्वच्छ बने तब निर्मल जल कहलाता है ॥३१४॥

घृत शुद्ध बने जल शीतल हो वह निज स्वभाव मे रहता है ।
यह चेतन भी जब निज स्वभाव मे तब यह शुद्ध कहाता है ॥३१५॥

निज स्वभाव गुण का ज्ञाता जब निज मे स्थित होता है ।
आनन्द अतीन्द्रिय मिले उसे वह निज पद निश्चित पाता है ॥३१६॥

ऐसे जो सिद्ध हुए जग मे मै उन सबको ही नमता हूँ ।
उनके गुण पाने के हित ही मै सादर शीश झुकाता हूँ ॥३१७॥

घृत मे पानी और छाछ और अन्य विकृतिया न हो तो उस घृत को शुद्ध घृत कहते है । जब जल शीतल और स्वच्छ हो तब वह निर्मल जल कहलाता है । घृत और जल दोनो हो जब शुद्ध अवस्था मे रहते है । तब वे अपने स्वभाव मे अपने गुणो से युक्त रहते है । यह आत्मा भी जब अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव मे रहता है तब शुद्ध कहने मे आता है ।

निज स्वभाव और गुण का ज्ञाता बनकर जब आत्मा निज मे स्थित हो जाता है तब वह अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त करता है और अति शीघ्र मोक्ष पद को प्राप्त करता है।

मै प्रभुदयाल ऐसे जो सिद्ध हुए है उनको श्रद्धा से नमस्कार करता हूं। उनके गुणो की प्राप्ति के हित ही मैं उनको शीश झुकाकर नमस्कार करता हू।

कर्म भार से मुक्त आत्मा सिद्ध बनता है—

तुम्बरु जल के ऊपर तैरे लोहा पारे ऊपर तैरे।
जब आत्म शुद्ध और निर्मल हो वह तीन लोक ऊपर तैरे॥३१८॥

यह स्वाभाविक गुण आत्मा का वह जग में सबसे हल्का है।
इसलिए सभी जग के ऊपर वह सिद्ध शिला पर रहता है॥३१९॥

कर्म भार से मुक्त होकर यह जीव एक समय मे ही सिद्ध क्षेत्र मे पहुँच जाता है, वह स्थान तीन लोक के ऊपर है, वहाँ जीव कैसे जाता है इसको समझाते है।

तुमड़ी जल के ऊपर तैरती है और लोहा पारे के ऊपर तैरता है क्योकि तुमडी पानी से हल्की है अत पानी पर तैरती है, लोहा पारे से हल्का होता है अत पारे पर तैरता है। इसी प्रकार शुद्ध आत्मा कर्मभार से मुक्त होकर तीन लोक के ऊपर तैरता है, क्योंकि आत्म द्रव्य सबसे हल्का है, अत तीन लोक के ऊपर जो सिद्ध शिला है वहाँ सिद्ध रहते है।

मोक्ष अधिकार द्रव्य प्ररूपणा के साथ—

द्रव्यों की संख्या छह कही सब गुण स्वभाव से पृथक्–पृथक्।
जीव द्रव्य केवल है चेतन शेष पाँच से वह पृथक्॥३२०॥

जो गुण स्वभाव से पृथक्–पृथक् वे पृथक् परस्पर होते है।
जो गुण स्वभाव जानें उनका वे सद् दृष्टि कहलाते हैं॥३२१॥

जिन शासन मे द्रव्य छह प्रकार के बतलाये है। जीव–अजीव, धर्म–अधर्म आकाश और काल। जीव का लक्षण चेतनता है वह उपयोग लक्षण वाला है अर्थात् जीव किसी वस्तु को किसी पदार्थ को किसी पदार्थ के विषय को जानने हेतु अपना उपयोग लगा सकता है अन्य पाच द्रव्य नही।

पुद्गल रूप रस गन्ध स्पर्श और शब्द गुण वाला है, पुद्गल मे चेतन लक्षण नही पाया जाता और जीव रूप रस गन्ध स्पर्श और शब्द गुण से होते है ।

धर्म–अधर्म आकाश और काल द्रव्य भी रूपी नही होते और न चेतन होते है । धर्म द्रव्य गति मे अधर्म द्रव्य स्थिति मे निमित्त कारण है । आकाश द्रव्य अन्य सभी द्रव्यो को रहने को अवकाश प्रदान करता है और काल द्रव्य समय विभाजक है ।

जीव द्रव्य का लक्षण—

जीव द्रव्य चेतन स्वरूप उपयोग स्वरूपी होता है ।
ज्ञान और दर्शन मय है वह रूप रहित कहलाता है ॥३२२॥
व्यवहार ज्ञान से-जीव शरीरी, कर्त्ता भोक्ता पर का है ।
कर्मो से भी युक्त रहे वह देहाकार कहाता है ॥३२३॥
निश्चय से जीव अरूपी है वह केवल ज्ञाता दृष्टा है ।
पर भाव और पर कार्यों का वह बन ना सकता कर्त्ता है ॥३२४

जीव द्रव्य चेतन लक्षण वाला होता है अर्थात् अपना हित अहित दुख–सुख समझने की शक्ति होती है । जीव द्रव्य किसी भी वस्तु के जानने और देखने मे अपना उपयोग लगा सकता है (उपयोग एक समय मे एक ही प्रकार का रहता है) जीव द्रव्य ज्ञान और दर्शन गुण वाला होता है । व्यवहार नय से जीव देहाकार व देह का स्वामी तथा पर भाव व पर कार्यो का कर्त्ता भोक्ता होता है, वह कर्मो से भी जुडा हुआ रहता है ।

निश्चय नय से– जीव रूप रहित है, अत किसी भी रूपी वस्तु का वह स्वामी या कर्त्ता नहीं हो सकता है । पुद्गल रूपी होता है, कर्म भी पुद्गल होते है । अत जीव कर्मो का कर्त्ता भोक्ता नही है । जीव स्वभाव से केवल ज्ञाता दृष्टा है अर्थात् जानने और देखने वाला है किसी कार्य का करने वाला नही है । जीव केवल अपने ज्ञान व दर्शन भाव का कर्त्ता होता है । ज्ञाता दृष्टा स्वभाव के अलावा जितने भी राग द्वेष मोह मय भाव उपस्थित होते है उनका कर्त्ता वह नही है ।

पुद्गल द्रव्य का लक्षण—

रूप गन्ध रस शब्द और स्पर्श गुणान्वित पुद्गल है ।
अविभाज्य भाग को अणु कहे दो अणु–अधिक स्कन्ध कहा ॥३२५॥

स्कन्धो के टकराने से ही शब्दोत्पत्ति होती है।
अतः शब्द पुद्गल होते है, पौद्गलिक गुण वाले है॥३२६॥

दूसरा द्रव्य पुद्गल है। पुद्गल रूप रस गन्ध और स्पर्श गुणो से युक्त होता है। जिस कण के एक से अधिक भाग नही हो सकते वह अणु कहलाता है। दो अणु या दो से अधिक अणु जब मिलते है तो वह स्कन्ध कहलाता है।

स्कन्धो के टकराने से ही शब्दो की उत्पत्ति होती है, अत शब्द भी पुद्गल होते है तथा पुद्गल के सभी गुण शब्द मे होते है।

धर्म द्रव्य का लक्षण—

पुद्गल के गुण अन्य द्रव्य में कभी नहीं मिल सकते है।
धर्म द्रव्य तो गति निमित्त है, अजीव जीव गति पाते है॥३२७॥

जिस विधि मछली चले नदी मे जल निमित्त बन रहता है।
उस विधि होती गतियाँ जग मे निमित्त धर्म द्रव्य ही है॥३२८॥

तीसरा द्रव्य धर्म द्रव्य है। जिस प्रकार जल मछली के चलने या ठहरने मे निमित्त कारण है, उसी प्रकार जीव और पुद्गल की गति मे धर्म द्रव्य निमित्त है।

पुद्गल गुण पुद्गल मे ही होते है अन्य द्रव्यो मे नही होते। धर्म द्रव्य भी रूप रहित होता है।

अधर्म द्रव्य का लक्षण—

अधर्म द्रव्य स्थिति निमित्त है अजीव जीव स्थिति करते।
गमन करें वे ही तो ठहरे, ठहरे वह ही गमन करे॥३२९॥

चौथा अधर्म द्रव्य है, यदि इस जग मे अधर्म द्रव्य न होता तो सम्पूर्ण जीव और अजीव गतिशील ही बने रहते कोई भी नही ठहरता, अत अधर्म द्रव्य जीव अजीव को स्थिति मे मौन सहायक है।

आकाश द्रव्य का लक्षण—

लोक अलोक भेद से यह आकाश द्विविध कहलाता है।
लोकाकाश अवकाश प्रदाता अलोकाकाश अकेला है॥३३०॥

धर्म–अधर्म अभाव जहां वह अलोकआकाश शून्य सम है।
अत सिद्ध लोकान्त विराजे सभी सिद्ध वहा स्थित है॥३३१॥

पाचवा आकाश दव्य है, आकाश द्रव्य अवकाश प्रदान करता है तथा सम्पूर्ण अन्य द्रव्यो को रहने के लिये स्थान प्रदान करता है। आकाश द्रव्य लोक आकाश और अलोक आकाश के भेद से दो प्रकार का है। लोक आकाश मे शेष पाच द्रव्य रहते है, लेकिन अलोक आकाग मे आकाग के अलावा कोई भी द्रव्य नही रहता। अत अलोक आकाश शून्य समान है। अलोक आकाश मे धर्म और अधर्म द्रव्य के अभाव के फलस्वरूप गति और स्थिति का भी अभाव है अत लोक आकाश और अलोक आकाग की सीमा पर सिद्ध क्षेत्र है, सिद्ध भगवान वहा विराजते है।

काल द्रव्य का लक्षण—

समय विभाग निमित्त सूर्य अरु पृथ्वी जिस विधि बनते हैं।
उसी तरह परिणाम द्रव्य के समय भेद बतलाते है ॥३३२॥

समय विभाग काल कहलाता काय रहित अरु नित्य वह।
क्षण क्षण से क्षण भंगुर है अरु दीर्घान्तर स्थायी है ॥३३३॥

काल द्रव्य के व्यवहार और निश्चय के भेद से दो प्रकार है। पुद्गल के परिवर्तन रूप जो नवीन और नष्ट पर्याय, उसकी क्षण पल घटी इत्यादि रूप 'स्थिति' जिसका स्वरूप है वह द्रव्य पर्याय रूप व्यवहार काल है। व्यवहार काल परिणाम क्रिया परत्व और अपरत्व से लक्षित होता है, ज्ञात होता है।

पदार्थ परिणमन मे जो सहकारीपना उसे वर्तना कहते है, वह वर्तना लक्षण वाला कालाणु द्रव्य रूप निश्चय काल है।

पर्याय द्रव्य से अनन्य और अन्य भी होती है—

पर्याय अनन्य अन्य भी होती गुण स्वभाव रूप पर्याय।
पुद्गल रूप कभी ना होती इस जग मे चेतन पर्याय ॥३३४॥

जो तन रूपी है तेरा यह निश्चित है पुद्गल पर्याय।
सुख दुख वेदन कर्त्ता तू है वेदन का ना और उपाय ॥३३५॥

द्रव्य की पर्याय द्रव्य से अनन्य और अन्य भी होती है, द्रव्य के गुण और स्वभाव रूप ही द्रव्य की पर्याये बनती है। एक द्रव्य की पर्याय दूसरे द्रव्य के गुण स्वभाव रूप नही होती है। चेतन की पर्याय चेतन लक्षण युक्त और पुद्गल की पर्याय पुद्गल लक्षण रूप होती है।

जीव का शरीर, मनुष्य, देव, तिर्यन्च, और नारकी चारो ही पर्यायो मे पुद्गल लक्षण युक्त होता है अत शरीर पुद्गल ही है। शरीर के परमाणु जीव के आत्म प्रदेशो के साथ रहते है। आत्मा अरूपी है शरीर पुद्गल होने के कारण रूपी है। अरूपी आत्मा को पौद्गलिक नेत्रो से नही देखा जा सकता अत अज्ञानी जीव शरीर को ही आत्मा समझता है, लेकिन सुख दुख का अनुभव सिर्फ चेतन ही कर सकता है, अत वेदन कर्त्ता आत्मा है, चेतन आत्मा के अतिरिक्त, कोई भी युक्ति या उपाय नही है जिससे अन्य द्रव्य को वेदन कर्त्ता मान लिया जावे।

प्रश्न—पर्याय को द्रव्य से भिन्न माना है फिर वह अनन्य कैसे हुई ?

उत्तर—जैसा द्रव्य है वैसी ही पर्याय नही होती जैसे मिट्टी से मिट्टी के घड़े मे आकार प्रकार और गुणो से भिन्नता है, आकार प्रकार से तो घडा पृथक् दिखाई देता ही है, परन्तु गुणो मे भिन्नता भी है—जैसे घडे मे पानी, दूध, घृत आदि रक्खे जा सकते है, लेकिन मिट्टी मे नही। घड़े को अग्नि से पकाने के कारण उसमे रंग परिवर्तन भी हो जाता है। अत घडा मिट्टी से बना होने पर भी मिट्टी से भिन्न है। अत द्रव्य से पर्याय भिन्न है।

लेकिन घडे की पर्याय—मिट्टी ही है। मिट्टी के अलावा अन्य कुछ भी नही है अत द्रव्य से अभिन्न है। मिट्टी के गुण भी घडे मे यथावत् मौजूद है अत मिट्टी से घडे की पर्याय अभिन्न है।

अत यह सिद्ध होता है कि द्रव्य से पर्याय कथाचित् भिन्न है और कथाचित् अभिन्न है।

जीव के आत्म प्रदेशो के साथ कर्म पुद्गल क्षीर नीर की तरह मिला हुआ होने पर भी दोनो भिन्न भिन्न है—

क्षीर नीर वत् मिला है पुद्गल अतः भिन्न सम ना लगता।
आत्मा तू साक्षात् ज्ञान है निज मे चिन्तन कर इसका ॥३३६॥
ज्ञान निमित्त शास्त्र कहलाते फिर भी शास्त्र ज्ञान ना है।
ज्ञान स्वयं तुम ही हो आत्मन् ज्ञान नाम तेरा ही है ॥३३७॥
पुद्गल के गुण पुद्गल ही हैं, पुद्गल गुण रूपादिक है।
रूपादिक हैं अन्य ज्ञान से श्री जिनवर यह कहते हैं ॥३३८॥
कर्म वर्गणा भरी हुई है, लोक विषें वह पुद्गल है।
वह ही कर्म रूप परिणमती, अतः कर्म पुद्गल ही है ॥३३९॥

कर्म फलों मे भाव बनें जो, अज्ञान ज्ञानमय हों उत्पन्न।
अज्ञान अवस्था की चेष्टा को नही कहे कोई ज्ञानोत्पन्न ॥३४०॥

संस्कार कोटि भव तक भी ठहरें अनात्म भाव आत्मा से भिन्न।
अज्ञान अवस्था आत्म जनित नही अतः वह आत्मा से भिन्न ॥३४१॥

अज्ञान भाव को भिन्न समझना चिन्तन है यह सूक्ष्म बहुत।
ज्ञान भाव का कर्त्ता आत्मा अज्ञान भाव अज्ञान निमित्त ॥३४२॥

कर्म और नोकर्म धूलि आत्मप्रदेशो के साथ दूध मे पानी की तरह मिली हुई है, अत भिन्न जैसी प्रतीत नही होती। इन्द्रियो के द्वारा आत्म प्रदेश देखे नही जा सकते अत कर्मधूलि और आत्म प्रदेश भिन्न दिखाई नही देते। आत्मा ज्ञान स्वरूप है, अर्थात् ज्ञान है वह आत्मा है और आत्मा है वह ज्ञान है। यद्यपि आत्मा अनन्त धर्मी है लेकिन ज्ञान गुण नही हो तो आत्मा शून्य है। अत आत्मा को साक्षात् ज्ञान ही माना है।

हे आत्मा तू अपने ज्ञान गुण से कर्म और नोकर्मधूलि जो तेरे साथ अनादि काल से चल रही है, उसका चिन्तन कर और देख कर्मधूलि स्पष्ट रूप से पृथक दिखाई देगी। हे आत्मन् शास्त्रो को ज्ञान का भण्डार कहा है लेकिन शास्त्रो मे जो शब्द रचना है वह तो पुद्गल है, अत. ज्ञान का भण्डार तुम स्वय ही हो इसीलिये तुम्हारा नाम ज्ञान है। पुद्गल के गुण पुद्गल ही होते है अत रूप रस गन्ध वगैरह पुद्गल के गुण होने से पुद्गल ही है, अत कर्म और नोकर्म पुद्गल ही है। भावकर्म भी पुद्गल के निमित्त से पैदा होते है अत पुद्गल ही है। भावकर्म आत्मा के गुणो से विपरीत है। जब तक आत्मा के साथ कर्मधूलि है तब तक ही भावकर्म पैदा होते है। कर्मो के उदय काल मे भावकर्म पैदा होते है अत. भावकर्म आत्मा से भिन्न है। भावकर्म आत्मगुणो के सदृश नही है तथा अन्य चार द्रव्यो के सदृश भी नही है अत भावकर्म पुद्गल ही है। जिस प्रकार पागल आदमी की चेष्टाओ को कभी भी किसी भी परिस्थिति मे स्वस्थ मनुष्य की चेष्टा नही कहा जा सकता उसी प्रकार भावकर्मो को भी चेतन नही कहा जा सकता अत भावकर्म पुद्गल ही है।

इस संसार मे तथा निखिल लोक मे कर्मवर्गणाये भरी हुई है, जीव के भावानुसार कर्मवर्गणाये कर्मरूप परिणमन करती है अत कर्म पुद्गल ही है क्योकि कर्मवर्गणाये पुद्गल है।

कर्म जब फल देते है तब ज्ञानमय और अज्ञानमय दोनो ही त१ के भाव बन सकते है। ज्ञानमय भावो को ज्ञानोत्पन्न और अ ।न। भावो को अज्ञानोत्पन्न कहते है। क्रोधादिक कषायों के जो संस्कार व है, अथवा यो कहे कि कषायो के कारण कर्मवर्गणाओ का ।ट। प्रदेशो पर जो प्रलेप होता है वह कोटि-कोटि भवो तक भी ०ह सकता है, लेकिन अनात्म भाव तो आत्म से भिन्न ही रहते है।

इस सत्य को समझने के लिये गहन चिन्तन एव ज्ञान की आवश्यकता है, कि ज्ञान भाव का कर्त्ता आत्मा है और अज्ञान भाव का कर्त्ता अज्ञान है जो आत्मा मे मोह के निमित्त से पैदा होता है।

इस विधि चेतन जीव पृथक हैं अन्य पांच ही द्रव्यों से।
निज निज लक्षण से सब न्यारे उपयोग लक्षणी जीवों से॥३४३॥

धर्म अधर्म आकाश काल अरु जीव अमूर्तिक होते हैं।
पुद्गल एक अकेला मूर्तिक निज गुण पूरित होता है॥३४४॥

इस प्रकार चेतन जीव अन्य पाच द्रव्यो से भिन्न है, जीव उपयोग लक्षण वाला है, अन्य पाचो द्रव्यो मे एक भी द्रव्य उपयोग लक्षण वाला नही है, वे पांचो द्रव्य अपने स्वलक्षणो से पूरित है, अत जीव द्रव्य से भिन्न है।

धर्म अधर्म आकाश काल और जीव रूपी नही होते, केवल पुद्गल ही एक द्रव्य है जो मूर्तिक रूपी होता है।

उपयोग स्वरूप आत्मा अनुभव जन्य है —

उपयोग लक्षणम् जीव द्रव्य का निश्चित ज्ञान कराता है।
जब अनुभूति निज की होती ज्ञायक निज को पाता है॥३४५॥

आत्मा ज्ञाता आत्मा दृष्टा वह कर्त्ता ना पर का है।
क्योंकि पौद्गलिक वस्तु का पुद्गल ही कर्त्ता होता है॥३४६॥

आत्मा का आकार नहीं अरु लिंग नही कुछ होता है।
आत्मा है अनुभूति जन्य वह अनुभव मे ही आता है॥३४७॥

अनुभूति निज की निज को यह ज्ञान अतीन्द्रिय होता है।
ज्ञान अतीन्द्रिय पूर्ण हुए से पूर्ण रूप पा जाता है॥३४८॥

जीव द्रव्य का उपयोग लक्षण प्रधान लक्षण है, इसी लक्षण से जीव का ज्ञान होता है। जीव जब निज अनुभूति करता है तब स्वय स्वयं को

पा लेता है। आत्मा ज्ञाता दृष्टा है वह पर का अर्थात् पुद्गल का कर्त्ता नही हो सकता और न पर का भोक्ता है क्योंकि गुण और स्वभाव रूप परिणमन करने वाला कर्त्ता होता है, आत्मा ज्ञान और दर्शन रूप ही परिणमन करता है, पुद्गल स्व गुणानुरूप परिणमन करता है, पुद्गल जीव के गुणानुरूप परिणमन नही कर सकता और जीव पुद्गल के गुणानुरूप और स्वभावरूप परिणमन नही कर सकता।

आत्मा अरूपी है, उसका न कोई निश्चित आकार है और न कोई निश्चित लिग है। आत्मा अनुभूति जन्य है। अत वह अनुभव से ही जाना जाता है। निज की अनुभूति होना अतीन्द्रिय ज्ञान है, जब अतीन्द्रिय ज्ञान पूर्ण हो जाता है तब आत्मा अपने पूर्ण रूप को पा लेता है।

स्व पर का भेद होकर जो निजानुभूति होती है वह सम्यग्दर्शन है—

अनुभूति जब निज की होती सम्यग्दर्शक बनता है।
निज अनुभूति के क्षण ही सम्यग्ज्ञानी बन जाता है ॥३४६॥

अनुभूति कर निज में स्थित होने को चारित्र कहें।
इस विधि दर्शन ज्ञान चारित्रमय मार्ग-मुक्ति का वरण करे ॥३५०॥

निज को अनुभूति होता सम्यग्दर्शन है, क्योकि जब अनुभूति हो जाती है तव अविचल श्रद्धान उत्पन्न होता है, आत्मा तब कर्म और नोकर्म से पृथक् निज सत्ता का अनुभव करता है, यह अनुभव निज का प्रत्यक्षीकरण है अत यह सम्यग्ज्ञान है। जब आत्मा निज अनुभूति कर निज मे ही स्थित होता है, तब यह सम्यक् चारित्र कहलाता है और इस तरह सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र तीनो के द्वारा यह आत्मा कर्मभाव से मुक्त होकर सिद्ध स्थान मे जाकर निवास करता है।

ध्यान आत्मास्थिति का उपाय

आत्मस्थित होने की विधि तो ध्यान मार्ग से मिलती है।
ध्यान आत्मा का ही करना इस से मुक्ति मिलती है ॥३५१॥

प्रतिक्षण भाव तुम्हारे आवें भावो से कुछ कार्य बनें।
भावो मे अद्भुत शक्ति है मोक्ष बन्ध निमित्त बनें ॥३५३॥

इक क्षण भी अपने भावो की चोकस रखना ना छोड़ो।
निज मे स्थित ज्ञानी ही निज की चौकस पक्को रक्खो ॥३५४॥

जब यह जीव स्व और पर का भेद पाकर स्वानुभूति कर लेता तब वह आत्मस्थिति की ओर बढना है। अपने ज्ञाता दृष्टा स्वभाव स्थित रहने को आत्म स्थिति कहते है जिस जीव को आत्म स्थिति हे लगती है, वह सकल्प और विकल्पो से जितना दूर रहता है उतनी ही ॰ ्‌ स्थिति हो जाती है। ज्ञाता दृष्टा स्वभाव पर जब पूर्ण श्रद्धा हो जाती उस जीव के सकल्प-विकल्प स्वय छूटने लग जाते है। वह समझता है ि मेरा सकल्प व्यर्थ है, यह ससार स्वचालित है, इस ससार की सम क्रियाये द्रव्य क्षेत्र काल भाव के अनुसार स्वत होती रहती है, उस निमित्त कारण उपस्थित होते है और कार्य बनते रहते है।

सभी जीव और मै स्वयं भी कर्मोदय से सुख-दुख प्राप्त करता हूँ, कर्मोदय से ही भाव बनते है, इन भावो और कार्यो का मैं ज्ञाता दृष्टा ह बन सकता हूँ, कर्त्ता नही अत मै न तो भावो का और न कार्यो का कर्त्ता हू।

ज्ञानी के जो ज्ञान भाव होते है वे भाव उसके गुण स्वभाव से सम होने से आत्मा उनका कर्त्ता है।

आत्म चिन्तन, या आत्मस्थिति आवश्यक है—

आत्मस्थित जिस समय नहीं हो आत्मस्थिति का चिन्तन हो।
आत्मस्थिति मे छेद बने ना ऐसा चिन्तन का क्रम हो ॥३५५॥
संकल्प और विकल्प छोड़कर चिन्तन केवल निज का हो।
जब निज में स्थित हो जाये चिन्तन स्वतः दूर ही हो ॥३५६॥

एक क्षण के लिए भी ज्ञान मार्ग से हटना हित कर नही है, क्योकि आत्मस्थिति से तात्पर्य ज्ञाता दृष्टा स्वभाव मे रहने से है। आत्मस्थिति के समय कर्मो की निर्जरा होती है, तथा नवीन बन्ध नही के बराबर होता है। अत आत्मस्थिति मोक्ष मार्ग मे सर्वोत्तम कार्य है।

जिस समय आत्मस्थिति न बने उस समय आत्मस्थिति का चिन्तन होना चाहिये। आत्मा के ज्ञाता दृष्टा स्वभाव का चिन्तन होना चाहिए।

सम्पूर्ण सकल्प और विकल्पो से हटकर निज का चिन्तनकर निज मे स्थित होना चाहिये। जब आत्मस्थिति हो जाती है, तब चिन्तन भी नही रहता केवल ज्ञाता दृष्टा बनकर आत्मस्थिति ही रहती है।

निज की पहचान और निज मे रमण निजाधीन है—

जो पहचान करे निज की अरु निज में ही रमना चाहे।
फिर कौन मार्ग रोके उसका यदि वह निज को पाना चाहे ॥३५७॥
यदि निज को पाने की इच्छा तुम राग-द्वेष पर से छोड़ो।
निज का ध्यान प्रतिक्षण हो इक क्षण निज से मत मुंह मोड़ो ॥३५८॥

जो निज आत्मा को जानकर निज मे ही रमण करना चाहे अर्थात् ज्ञाता दृष्टा बनकर रहना चाहे तो वह बिना किसी बाधा के निज आत्मा को प्राप्त कर सकता है।

यदि निज को प्राप्त करने की इच्छा है तो पर पदार्थों मे इष्ट और अनिष्ट कल्पना का त्याग करो ताकि राग-द्वेष पैदा न हो। जब पर मे बुद्धि नही जायगी तब इष्ट और अनिष्ट कल्पना नही होगी और राग-द्वेष बुद्धि समाप्त हो जायगी। अत प्रतिक्षण निज का ध्यान रखकर निज मे ही लीन रहो एक क्षण के लिए भी निज से मुह मत मोडो।

निज स्थिति ही अन्त मे कर्म कलक दूर करती है--

निज मन्दिर में देव पधारे अब चिन्तन किसका करना।
निज मन्दिर मे ही रहना है अब चिन्तन का क्या करना ॥३५९॥

निज मन्दिर मे सिद्ध विराजे नही कष्ट अब कोई है।
ज्ञान वीर्य सुख दर्शन चारो अब तो अनन्तानन्त ही है ॥३६०॥

आत्मा अपने आप मे स्थिर हो गया, सभी तरह के सकल्प और विकल्प दूर हो गये। चारो घातिया कर्मो की निर्जरा कर केवल ज्ञान प्रकट हो गया। अब तो निज मन्दिर मे ही रहना हे अब चिन्तन की आवश्यकता समाप्त हो गई। समय पाकर चारो अघातिया कर्म भी निर्जरित हो गये अब सम्पूर्ण कर्मभार से मुक्त होने के कारण सिद्ध बन गये और सिद्धालय मे विराजमान हो गये, सिद्ध भगवान ने अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन अनन्त वीर्य और अनन्त सुख प्राप्त कर लिया और अनन्त काल के लिए सुख मे चिरमग्न हो गये।

आत्मध्यान का प्रकार--

आत्मलीनता आत्मध्यान है उपादेय यह ही है श्रेष्ठ।
आत्मध्यान जो प्रतिक्षण करता वह जगत मे बनता श्रेष्ठ ॥३६१॥

निर्विकल्प बने निज अनुभूति कर निज को निज मे ही देख।
जबतू निज को देख सकेगा, तभी ध्यान हो तेरा श्रेष्ठ ॥३६२॥

आत्मलीनता का अर्थ है आत्मा का ध्यान। जब हम हमारे घर मे रहते है भोजन करते है शयन स्नान आदि करते है उस समय यह खयाल मे नहीं आता है कि मेरे घर मे हू। उसी प्रकार आत्मलीनता में जीव निज मे स्थित रहता है परन्तु उसको यह विकल्प नही आता कि मैं अपने आप मे स्थित हो रहा हूँ अत निर्विकल्प होकर आत्मस्थित होना ही आत्मलीनता है। आत्मलीनता या आत्म ध्यान ही सर्वोत्कृष्ट क्रिया है। जो प्रतिक्षण आत्म ध्यान मे रहता है वह जगत मे अपने कर्मो का क्षय करके श्रेष्ठ बन जाता है। वह जब को निज मे देखता है तब उसका ध्यान श्रेष्ठ कहलाता है।

स्वभाव आत्म स्वभाव और क्रोधादिक विभावो का ज्ञान आवश्यक है—

निज स्वभाव अरु पर विभाव का सत्य निरूपण तेरे हो।
निज से सुख अरु पर से दुःख का भेद दृष्टि मे तेरे हो ॥३६३॥

निज स्वरूप अरु पर स्वरूप का पूर्ण चित्र तेरे घट हो।
गुण, स्वभाव और द्रव्य रूप से भेद उभय का मालुम हो ॥३६४॥

आत्म ध्यान करने वाले को अनन्त चतुष्टय निज वैभव का पूर्ण ज्ञान तथा राग-द्वेष मोह क्रोधादिक विकृतियो का आत्मा से पृथक्त्व किस तरह हैं यह ज्ञान होना आवश्यक है। मैं स्वय सुख स्वरूप हू अत राग द्वेष मोह क्रोधादिक जो कि दु ख क कारण है सुख-स्वरूपी आत्मा से भिन्न है, यह ज्ञान आवश्यक है।

आत्मा का ज्ञान दर्शनमय स्वरूप उसका, ज्ञाता दृष्टा स्वभाव, और द्रव्यो से उपयोग लक्षण विशिष्ट गुण का ज्ञान पूर्ण रूप से हृदय पर चित्रित कर, जीव और पुदगल का गुण और स्वभाव से दोनो का पूर्ण रूप से भेद ज्ञान होना आवश्यक है।

ज्ञानी और ध्यानी निर्वाण प्राप्त करता है—

इस विध ज्ञानी ध्यानी बन कर प्रतिक्षण स्व मे लीन रहे।
ऐसा ध्यानी ज्ञायक बनता सभी कर्म से दूर रहे ॥३६५॥

निज में निज के खो जाने से वह स्वयंभू शीघ्र बने।
कर्म निर्जरा पूर्ण हुए निर्वाण लहे अरु सिद्ध बने ॥३६६॥

इस प्रकार भेद विज्ञानी राग द्वेष मोहादिक भावो को भी निज से भिन्न मानता है। जिस प्रकार मदोन्मत्त के, परमद के कारण विकृत चेष्टाये होती है, उसी प्रकार मोहाच्छादिन जीव के भी क्रोधादिक व राग द्वेषादिक विकृत चेष्टायें होती है। अज्ञानी जीव को तो यह भी मालुम नही है कि वह मोह से आच्छादित है वह कर्म भार से दबा हुआ है, वह तो कर्मोदय के निमित्त से प्राप्त सुख दु ख को तथा राग द्वेषादिक भावो को निज के मानता है उनका कर्त्ता व स्वामी बनता है, कर्त्ता व स्वामी बनने के कारण रागादिक विकृतियो की परत हल्की होती ही नही, लेकिन अज्ञानी इन सब तथ्यो से अनभिज्ञ है।

लेकिन भेद विज्ञानी अपने ज्ञाता दृष्टा स्वभाव को भलीभाति समझता है, अपने अरूपीत्व को जानता है, उपयोग लक्षण से हीन और रूपी पुद्गल को जानता है अत वह ध्यान लगाकर आत्म स्थिति कर लेता है, आत्म स्थिति हो जाने से सम्पूर्ण कर्मो की निर्जरा हो जाती है तथा वह सिद्ध बन कर निर्वाण चला जाता है वह जगत का स्वयभू बन जाता है।

सत्य मार्ग का परिचय ही सत्य मार्ग पर ले जाता है—

निज पद पाने की सब रीति बडी सुगम है ओ ज्ञानी।
केवल उसका परिचय न होना ही है इक नादानी ॥३६७॥

गाड़ी चालक जब यह जाने लक्ष्य प्राप्ति का मार्ग यह।
निश्चित मिथ्या मार्ग छोड़कर सही मार्ग पर चले वह ॥३६८॥

इस विधि तुम भी मार्ग जानकर मोड़ो निज को उसी तरफ।
लक्ष्य प्राप्त निश्चित होवेगा जब चेष्टा हो लक्ष्य तरफ ॥३६९॥

हे ज्ञानी प्राणी निज पद (मोक्ष पद) पाने की रीति बहुत सरल है, लेकिन उसका परिचय (ज्ञान) न होने से नादानी (मूर्खता) हो रही है। क्योकि जब तक किसी वस्तु का मूल्य व उसके अस्तित्व का ज्ञान न होगा तब तक उसको प्राप्त करने का प्रयत्न नही हो सकता, चाहे वह वस्तु घर मे ही पडी हो, लेकिन वस्तु घर मे ही है, उसका मूल्य बहुत है, और वह अत्यन्त उपयोगी है, तो उस वस्तु को प्राप्त करने का प्रयत्न अवश्य होगा और वस्तु मिल भी सकती है।

जिस प्रकार राहगीर गाडी वाले को अपने लक्ष्य तक पहुँचने का

सही मार्ग मिल जावे तो गलत मार्ग को छोड़कर निश्चित ही सही मार्ग पर चलने वाला अपने लक्ष्य को अवश्य प्राप्त करेगा।

अत हे भव्य जीव तुम भी निज को पाने का सच्चा मार्ग जानकर सत्य मार्ग पर चलो, तुम्हारा लक्ष्य तुम को अवश्य प्राप्त हो जावेगा।

पर से हटकर निज मे निज बुद्धि लगाने मे निज पद की प्राप्ति होती है—

आत्म शक्ति है बड़ी ही अद्भुत मोहाच्छादित मोह करे।
मोह ग्रन्थि से अज्ञानी बन पर में वह निजबुद्धि करे॥३७०॥
यदि ज्ञानी बन निज को चाहे पर से बुद्धि हटे उसकी।
निज को निश्चित प्राप्त करे वह ना इसमें है असंगति॥३७१॥
अतः ओ ज्ञानी तत्व समझ ले पर से बुद्धि हटा निज की।
निज में ही निज बुद्धि लगाले, यही रीति है निज पद की॥३७२॥

आत्मा की शक्ति अद्वितीय है। आश्चर्यकारी है आनन्द देने वाली है, जब आत्मा अपने स्वरूप मे रहता है, पूर्णरूप से अपने स्वभाव को प्राप्त कर लेता है तब वह ज्ञानी कहलाता है, और वह तीन लोक तीन काल के सम्पूर्ण द्रव्यो की सम्पूर्ण पर्यायो को एक साथ देखने की शक्ति वाला होता है। लेकिन जब वह मोहाच्छादित होने के कारण स्वभाव मे नही रहता है तब वह पर पदार्थो मे ममत्व भाव रखता है जिससे बन्धन पैदा होता है। अज्ञान भाव से वह पर मे निज बुद्धि कर ग्रन्थि बनाता है।

यदि आत्मा के ज्ञानावरणी कर्म का क्षयोपशम हो वह आत्मा के रहस्य को जाने तो वह पर दृष्टि का त्याग कर स्वोन्मुख होकर निज को चाहे, देखे तो वह निज को निश्चित प्राप्त कर सकता है अर्थात् आत्मा को कर्म भार से मुक्त करवा सकता है।

अत. हे ज्ञानी तुम स्व और पर के भेद को जानकर सात तत्वो को जानकर पर से बुद्धि हटाकर निज मे ही अपने आपको लगा दो, निज पद अर्थात् निर्वाण पद की यही रीति है।

विशिष्ट ज्ञानाधिकार

विशिष्ट ज्ञानाधिकार मे प्रश्नोत्तर रूप मे कुछ ऐसे प्रश्नो के उत्तर दिये है जिसको समझने से सच्चे धर्म की जानकारी जन साधारण को की प्राप्त होगी, तत्त्व ज्ञान मे शका उपस्थित नही होगी, और इस तरह सत्य की खोज करने वाले सम्यक् दृष्टि प्राप्त कर सकेंगे।

प्रश्न—धर्म का क्या अर्थ है ?

उत्तर—जिस चर्या से आत्मज्ञान हो भेद स्व पर का मालूम हो।

मुक्त बने कर्मो से जिस विधि धर्म नाम से उसे कहो। ३७३।।

निज स्वभाव को जिस विधि जाने शुद्ध आत्म का दर्शन हो।
ज्ञायक दर्शक जिस विधि बनता धर्म नाम से उसे कहो ।।३७४।।

संकल्प और विकल्प नही हो ज्ञाता दृष्टा प्रतिक्षण हो।
क्षमा आदि दश धर्म लाक्षणिक धर्म नाम से उसे कहो ।।३७५।।

जिस किसी भी चर्या से, "मै आत्मा हू' यह अनुभव हो सके तथा आत्मा और अनात्मा (शरीर और कर्म) अर्थात् स्व और पर का भेद लालुम हो। जिस विधि से कर्मो से छूट कर यह जीव मुक्ति प्राप्त कर सके वह धर्म कहलाता है।

प्रत्येक द्रव्य का प्रत्येक पदार्थ का स्वभाव होता है, जिस प्रकार जल का स्वभाव शीतल और अग्नि का स्वभाव ऊष्ण होता है, प्रत्येक द्रव्य मे उसके निज गुण होते है, उन गुणो और स्वभाव के अनुसार ही उस द्रव्य मे क्रिया होती रहती है। आत्मा का स्वभाव जो ज्ञाता दृष्टा है और आत्मा के गुण जो ज्ञान और दर्शन है उनको जिस विधि से जाने और आत्म दृष्टि प्राप्त हो, तथा जिस विधि से यह आत्मा ज्ञायक और दर्शक बन कर रहे उसको धर्म कहते है।

सकल्प और विकल्प से रहित (किसी कार्य के करने की प्रतिज्ञा करना सकल्प है, किसी भी कार्य या घटना का विचार करना विकल्प है) जो स्व और पर का जानने वाला और देखने वाला बन कर रहे, तथा उस व्यक्ति मे देखने से ही उसके कार्यो मे क्षमा मार्दव आदि दश धर्म जीवन मे उतरे हुए दिखाई दे उसको धर्म कहते है।

प्रश्न—लोक मे दान देना, दया पालना, ज्ञानवर्धन हेतु विद्यालय बनाना, चिकित्सालय की स्थापना करना, पुस्तके व ग्रन्थो का प्रकाशन करवाना, मन्दिर बनाना, बिम्ब प्रतिष्ठा करवाना, दुख दर्द मे किसी की मदद करना इन सब को धर्म कहना उचित है या नही ?

उत्तर—**दान चतुर्विध ग्रन्थ प्रकाशन दुख मे पर उपकार करे।**
स्वर्गादिक सुख इनसे मिलते धर्म नाम ना प्राप्त करे ॥३७६॥
धर्म कहें व्यवहारी इनको, आत्म प्राप्ति है निश्चय धर्म।
व्यवहार धर्म जग भ्रमरा करावे, मोक्ष पठावे निश्चय धर्म ॥३७७॥
आत्म ज्ञान जब हो जाता है, आत्म रूप दिख जाता है।
उपयोग शुद्ध तब हो जाता है धर्म नाम वह पाता है ॥३७८॥
शुभ और अशुभ उपयोगी प्राणी कर्म बन्ध ही करता है।
अतः धर्म उसको ही कहते जो अक्षय सुख दाता है ॥३७९॥

उपरोक्त सभी कार्य जीव को सद्गति प्रदान करने वाले है स्वर्ग सुख एव धन धान्यादि वैभव, ऊँचे-ऊँचे पद प्रदान करने वाले है अत व्यवहार मे इनको धर्म शब्द की सज्ञा दी गई है। लेकिन हमारे आचार्यो ने ससार मे ही भ्रमण कराने वाली किसी भी क्रिया को धर्म नही माना, उन्होने जो जीव को जन्म मरण के दुख से छुडा कर मोक्ष सुख प्रदान करे उसी विधि को धर्म माना है। क्योकि कर्मो से मुक्ति प्राप्त करने पर ही जीव को अविनाशी सुख मिलता है।

प्रश्न—कोई आत्मज्ञानी उपरोक्त दान दया आदि क्रियाओ को करे तो यह धर्म है या नही ?

उत्तर—**आत्मलीन जो प्राणी रहते कर्म निर्जरा करते है।**
क्रिया जो हो उनके निमित्त से ज्ञाता उसके रहते है ॥३८०॥
अतः आत्मज्ञानी प्रतिक्षण उपयोग शुद्ध ही रखते है।
शुद्धोपयोगी जो बन जाते कर्म बन्ध से बचते है ॥३८१॥

आत्मज्ञानी आत्मलीन रहते है अतः उनके कर्मो की निर्जरा होती रहती है जो उनके निमित्त से क्रिया होती है उस क्रिया के वे कर्त्ता नही बनते बल्कि ज्ञाता बन कर रहते है, अत आत्मज्ञानी का उपयोग शुद्ध होता है, शुद्धोपयोगी जो बन जाते है उनके कर्म बन्ध नही होता अत उनकी क्रिया धर्म कहलाती है।

प्रश्न—भगवान की भक्ति करना पूजन करना, व्रत उपवास करना धर्म है या नही ?

उत्तर—भगवान भक्ति प्रतिदिन तुम करलो, उपवासादिक खूब करो।
आत्मज्ञान बिन धर्म नही हो, अतः ज्ञान सद् प्राप्त करो ॥३८२॥

भगवान की भक्ति करना पूजन प्रक्षालन करना, एकाशन, उपवास वगैरह जो आत्म ज्ञान के बिना करते है वे केवल पुण्य बन्ध करते है, लेकिन जिनको आत्मज्ञान हो गया है वे यदि उपरोक्त क्रियाओ को करते है तो निश्चित ही धर्म करते है।

व्रत उपवास तो आत्मज्ञान के बिना करना केवल क्रियाकाण्ड है, उनका धर्म से सम्बन्ध नही है।

आत्म हित के लिये ध्यान मे रत ज्ञानियो के जो व्रत उपवास होते है, वहा लक्ष्य आत्म हित का रहने से धर्म होता है, केवल व्रत उपवास के कारण धर्म नही होता। अत आत्म साधना आत्म प्राप्ति का मार्ग ही सच्चा व्रत तप है।

लेकिन इसका अर्थ यह नही है कि हम दर्शन, पूजन, भजन, प्रक्षालन न करे, क्योकि ये भी दूरतरकारी मोक्ष प्राप्ति के साधन बन सकते है। तथा अरिहन्त और सिद्ध के गुणो को जानकर जो भक्ति के भाव रखते है वे सम्यग्दृष्टि होते है।

प्रश्न—क्या हम दया व दान के भाव न रक्खे ?

उत्तर—दया दान के भाव श्रेष्ठ है पर उपकारी होते है।
जो जन ऐसे भाव है रखते स्वर्गादिक सुख पाते है ॥३८३॥
निज के सम पर दुख को माने दया दान से सुखी करें।
देव तुल्य गुण उनमे होते अशुभकर्म निज नष्ट करें ॥३८४॥
पर, ज्ञान यह सम्यकत्व नहीं है, कर्मोदय से सुख दुख हैं।
दया दान के करने वाले निमित्त बन कर रहते हैं ॥३८५॥

दया का अर्थ किसी, भूखे प्यासे, किसी आवश्यक अभाव से दुखी या रोग से दुखी जीव को देखकर उसके दुख को दूर करने के लिये तन, मन व धन से सेवा करना, उसके दुख को निज दुख के समान समझना। ऐसे समय मे सेवा करना श्रमदान और धन खर्च करना अर्थ दान कहलाता है। भूखे प्यासे को भोजन व जल पान आहार

दान है। रोगी की औषध व्यवस्था करना औषध दान है। शत्रुतापूर्ण व्यवहार करने वाले को भी अज्ञानी समझ कर छोड देना, किसी दुष्ट पशु या मनुष्य से बचाकर किसी को जीवन दान देना अभयदान है।

इस प्रकार पर उपकार के भाव रख कर जो दया करता है या दान करता है, इससे उसके शुभ कर्मो का वन्ध होता है, स्वर्ग सुख और मनुष्य या पशु जाति के सुख उसको प्राप्त होते है। पर के उपकार मन्द कषाय अवस्था मे ही होते है, क्योकि तीव्र कषायी के उपकार के भाव नही वनते, मन्दकषाय पुण्य वन्ध का कारण है, और इस प्रकार दयादान करने वाले इस ससार मे देव तुल्य माने जाते है। जिसके ऐसे भाव होते है उनके वधे हुए अशुभ कर्म भी शुभ मे वदल जाते है।

लेकिन यह तथ्य समझने योग्य है कि दया दान आदि के भावो से कर्म वन्धन ही होता है चाहे वह शुभ कर्म हो। अत. इनसे ऊपर उठकर जो आत्म ज्ञान प्राप्त कर अपने ज्ञाता दृष्टा स्वभाव के रहस्य को समझते है वे ही श्रेष्ठ है।

दया दान कर जो यह समझते है कि मैंने किसी का दुख दूर किया है वह भी मिथ्या है क्योकि, दुख और सुख प्रत्येक जीव को अपने शुभाशुभ कर्मोदय से प्राप्त होते है। अत न तो कोई पर को दुखी करता है और न सुखी करता है स्वय के कर्मोदय से ही सुख दुख पैदा होता है।

पर का हस्तक्षेप नहीं है सुखी दुखी पर नही करे।
अशुभ कर्म से दुख मिलता है शुभ कर्म ही सुखी करे ॥३८६॥

अर्थात् पर के कारण से कभी सुख या दुख नही मिलते है। शुभ कर्म के उदय से सुख और अशुभ कर्म के उदय से दुख पैदा होता है।

प्रश्न – क्या इस प्रकार दयादान करना व्यर्थ है, क्योकि पर का पर मे हस्ताक्षेप न होने से तथा कर्मोदय से सुख दुख मिलने से जो होना है वह स्वत ही हो जायगा ?

उत्तर—संसार स्वचालित है सारा एक एक अणु की गति निश्चित।
दया दान होगे अवश्य सब कार्य पूर्व मे है निश्चित ॥३८७॥

जिसमे निमित्त तुम बनते हो स्वामी उसके बन जाते हो।
कर्त्तृत्व बुद्धि यह वन्धन है, जिस कारण जग मे फिरते हो ॥३८८॥

यह सारा ससार स्वचालित है, सब द्रव्य अपने गुण और स्वभाव के अनुसार परिणमन कर रहे हैं, सर्वज्ञ के ज्ञान मे भविष्य के सभी कार्य पहले ही देखे जा चुके हे। अत जिस कार्य को द्रव्य क्षेत्र काल भाव के अनुसार जिस प्रकार होना है वह होना हे अत तुम्हारे दया दान मे इस ससार का कार्य चलता हो ऐसा नही हे और तुम्हारे दया दान न करने से इस ससार का कोई भी कार्य रुक जायगा ऐसा भी नही है। तुम्हारे दया दान के निमित्त से जो कार्य होना हे वह भी अवश्य होगा, तुम्हारे दया दान के भावो के भी तुम कर्त्ता नही हो। अत मिथ्या कर्त्ता अभिमान छोडो जिससे ससार भ्रमण मे बच सको।

प्रश्न यदि ससार स्वचालित है और सर्वज्ञ के ज्ञान मे जो आया वही होगा तो हम पुरुषार्थ क्यो करे।

उत्तर–पुरुषार्थ कहा तुम करते हो क्रमबद्ध क्रिया इस जग की है।
द्रव्य क्षेत्र अरु काल भाव वश क्रिया तुम्हारी निश्चित है ॥२८९॥

कार्य सुनिश्चित भाव सुनिश्चित कर्त्ता भाव बीमारी है।
मिथ्यात्वपूर्ण कर्त्तृत्व बुद्धि कर्मो का बन्धन करती है ॥२९०॥

निज स्वभाव ज्ञाता दृष्टा कर्त्तत्व बुद्धि निर्मूल करो।
ज्ञाता दृष्टा मय रूपधरो निज आत्मा का उद्धार करो ॥२९१॥

कंधे पर गठड़ी पड़ी हुई उन्मादी उसकी खोज करे।
जब मिल जाये डंडे मारे इस विधि अज्ञानी कार्य करे ॥३९३॥

संसारी प्रायः अज्ञानी इसलिए रूप निज न जानें।
निज स्वरूप पहचान नहीं इसलिये मै कर्त्ता यह जानें ॥३९४॥

दृश्य नेत्र से जो पदार्थ उसका ना कर्त्ता नेत्र, सुनो।
दृष्टा ज्ञाता भी आत्म यह कोई कार्य न करता यह सुनो ॥३९५॥

ससार के सभी कार्य तथा जीव की बदलने वाली पर्याये क्रमवद्ध है। जिस पर्याय के बाद जो आनी है वही आती है, अन्य नही इस तथ्य को स्वीकार करने के लिए पूर्ण धैर्य की आवश्यकता है, सभी द्रव्य स्व परिणमन स्व समय मे करते रहते है। इस जीव मे अज्ञानवश अनादि-कालीन कर्त्तृत्व भाव पडा है वह मिथ्या है इस मिथ्वात्व को छोड़ने के लिये क्रमबद्ध पर्याय की युक्ति स्वीकार करना आवश्यक है। जब यह जीव पहचान लेगा कि मै अपने स्वभाव व गुणानुसार केवल ज्ञाता दृष्टा हू तब इसका कर्त्तृव्य मिथ्यात्व दूर हो जायेगा जब जीव जो चेतन है दर्शन और ज्ञानमय है, वह तो कोई कार्य करता ही नही तो फिर ससार मे कार्य कैसे हो रहे है? द्रव्य पर्यायिरूपी परिणमन किस तरह करते है? जब यह प्रश्न उपस्थितहोता है तब स्वत ही इस ससार को स्वचालित एव क्रमबद्ध पर्याय के अनुसार चलने वाला स्वीकार करना पडेगा।

जिस प्रकार नेत्र अपने दृश्य पदार्थ को देखता है पर करता नही, उसी प्रकार ज्ञाता दृष्टा आत्मा जिस पदार्थ को जानता और देखता है उसको करता नही है। इस प्रकार कर्त्त त्व बुद्धि का त्याग होकर दृष्टि सम्यक् बन जाती है।

प्रश्न—जब आत्मा का कोई भी कार्य नही है तो क्या आत्मा निष्क्रिय है?

शुद्ध आत्म भगवान स्वयं, वे तीन लोक देखें जाने।
देखें जानें निज को पर को बस आत्म कार्य यह ही माने ॥३९६॥

है शक्ति अनन्त शुद्धात्मा की वह लोक काल तीनो जानें।
मै भी आत्मा मै भी प्रभु हुं इसको सम्यकत्वी पहचाने ॥३९७॥

अरिहन्तो और सिद्धो को हम भगवान कहते है क्योकि उनकी आत्मा शुद्ध होती है। अरिहतो के चार आघातिया कर्म शेष रहते है लेकिन ससार

भ्रमण करने वाला मोहनीय कर्म उनका नष्ट हो जाता है। मोहनीय के नष्ट हो जाने से उनका अज्ञान नष्ट होकर पूर्ण ज्ञान प्रकट हो जाता है अत अरिहन्तो की आत्मा भी शुद्ध होती है। अरिहन्त और सिद्ध सम्पूर्ण पदार्थो की तीन लोक और तीन काल की भूत भविष्य और वर्तमान पर्यायो को प्रत्यक्ष पर्याय की जैसे जानते है। आत्मा का यह ही कार्य है अन्य कोई कार्य नही। हम भी आत्मा है हमारी आत्मा भी जब शुद्ध हो जायगी तब प्रभु बन जायगी। इस तथ्य को सम्यक् दृष्टि ही जानता है अन्य नही।

प्रश्न—क्या ज्ञाता दृष्टा बनने के लिए पुरुपार्थ की आवश्यकता है ?

उत्तर- पर्वत को कर से उठालिया फूंकों से पर्वत उड़ा दिया।
इसको पुरुषार्थ गिनें जग मे सच्चे पौरुष को भुला दिया ॥३९८॥

सच्चा पौरुष निज मे रहना जिसने कर्मों को काट दिया।
निज को निज से जो देख सके तो सच्चा पौरुष जगा दिया ॥३९९॥
ज्ञाता दृष्टा बनकर रहता वह ज्ञान आवरण हरता है।
आवरण पूर्ण जो हटा सके सच्चा पुरुषार्थी होता है ॥४००॥
इस ही पौरुष को करना है ऐसा पुरुषार्थी बनता है।
अक्षयता को जो प्राप्त करे सुख प्राप्त वह ही करना है ॥४०१॥

ज्ञाता दृष्टा बनने के लिये सच्चे पुरुषार्थ को जगाना है। सच्चा पुरुषार्थ निज ज्ञाता दृष्टा स्वभाव की पहचान कर ज्ञाता दृष्टा बनकर रहना है। ज्ञाता दृष्टा बनकर रहने से ज्ञान का आवरण हट जाता है। आवरण हटने से अनन्त ज्ञान-शक्ति प्रकट हो जाती है बस यह ही सच्चा पुरुषार्थ है जो अक्षय सुख का देने वाला है। अत ज्ञाता दृष्टा का अर्थ समझ कर ज्ञाता दृष्टा बनकर रहना ही सच्चा पुरुषार्थ है।

प्रश्न—ससार के सभी कार्य काल लब्धि से होते है यह जीव मोक्ष भी काल लब्धि आने पर ही जाता है क्या यह सत्य है ?

उत्तर—है काललब्धि सच्ची युक्ति केवल ज्ञानी की वाणी है।
पर हम तो केवल ज्ञानी ना, ना सत्य स्थिति जानी है ॥४०२॥

अतः अगर पुरुषार्थ करें अरु ज्ञाता दृष्टा रूप धरें।
निज स्वरूप मे रहने का ही हम अनन्त पुरुषार्थ करें ॥४०३॥

ज्ञाता दृष्टा निज शुद्ध रूप इस मोक्ष सेतु को हम पकड़ें।
वैभव अनन्त चतुष्ठय के स्वामी बन निज भोग का करें ॥४०४॥

इस विधि काल लब्धि का चक्कर हम सहज में दूर करें ।
स्वर्गादिक सुख निश्चित पावें अरु शीघ्रमुक्ति का वरण करें।।४०५।।

काल लब्धि होने पर मोक्ष की प्राप्ति होती है, यह सत्य युक्ति है। और केवल ज्ञानी की वाणी है, लेकिन वर्तमान समय मे केवल ज्ञानियो का अभाव है और हम स्वय भी केवल ज्ञानी नही है ऐसी स्थिति मे काल लब्धि के भरोसे न रहकर हमको अनन्त पुरुषार्थ करने की आवश्यकता है। आत्मा के ज्ञाता दृष्टा रूप की सही पहचान करना आवश्यक है, क्योकि यह ससार सागर को पार करने के लिये सबसे बडा सेतु है। इस तरह काल लब्धि का इन्तजार न कर पुरुषार्थ करे। यह पुरुषार्थ स्वर्गादिक सुख तो निश्चित देता ही है और मुक्तिश्री को भी शीघ्र प्राप्त करवाता है, जब काल लब्धि आ गयी है तब ही आत्म ज्ञान की रुचि जागृत हुई है। जिनकी मुक्ति दूर है उनकी रुचि भी आत्मा ज्ञान की तरफ नही होती।

प्रश्न—यदि केवल ज्ञानी हमको बता दे कि अमुक समय मे ज्ञान पैदा होगा तब तो पुरुषार्थ की आवश्यकता नही है न ?

उत्तर—**तुम प्राप्त करोगे मुक्ति श्री सर्वज्ञ प्रभु ने जब जाना ।**
तुम किस विधि से पुरुषार्थ करोगे यह भी प्रभु ने पहचाना ।।४०६।।

भरत क्षेत्र के गगन मार्ग से गुजर रहे थे दो मुनिराज ।
चारण ऋद्धि धारी दोनो थे देखा वन में इक वनराज ।।४०७।।

दिव्य ज्ञान से यह पहचाना शेर बनेगा जग सिरताज ।
तीर्थंकर अन्तिम यह होगा भेद बता दो इसको आज ।।४०८।।

नीचे उतरे नील गगन से देखा उनको तब वनराज ।
विस्मय हुआ दृश्य जब देखा सन्मुख हुए कौन यह आज ।।४०९।।

मुनियो के सम्बोधन से ही धन्य हुआ फिर वह वनराज ।
सम्यग्दर्शन प्राप्त किया संकल्प किया व्रत पालन काज ।।४१०।।

दश भव बाद बने तीर्थंकर जन्म लिया निज पर हित काज ।
दुर्धर तप वन मे रह कीना बने वही जग में जिनराज ।।४११।।

इसी तरह से भव्य प्राणियो फल के साथ परिश्रम है ।
मोक्ष प्राप्ति पुरुषार्थ करो यह ज्ञान बहुत आवश्यक है ।।४१२।।

सर्वज्ञ ने जिस जीव को देखा है कि वह इतने समय बाद मोक्ष जायगा। उसी जीव का मोक्ष हेतु पुरुषार्थ भी देखा है।

उदाहरण के लिये भगवान महावीर दश भव पूर्व जब शेर की पर्याय मे थे, उनको वन मे, आकाश विहार करते हुए दो चारण ऋद्धि धारी मुनियो ने देखा। उन्होने अपने दिव्य ज्ञान से जाना कि वन मे विचरण करने वाला शेर भरत क्षेत्र मे ही अन्तिम तीर्थङ्कर बनेगा। वे दोनो मुनि जमीन पर उतरे और यह भेद उस शेर को बतलाया उन्होने शेर को तत्व ज्ञान का उपदेश भी दिया। शेर को यह बात सुनकर तथा तत्व ज्ञान पाकर आसू आ गये और उसने पच अणुव्रत पालन करने का सकल्प किया। वह ही शेर का जीव दश भव बाद भगवान महावीर अन्तिम तीर्थङ्कर बना और बारह वर्ष तक भयकर तप कर केवल ज्ञान प्राप्त किया और अपनी दिव्य ध्वनि के द्वारा ससार के दुखी प्राणियो को मोक्ष का मार्ग बतलाया। अत हे भव्य प्राणियो फल और श्रम दोनो जुडे हुए है। आप अक्षय सुख की प्राप्ति के लिए पुरुषार्थ करो यह ज्ञान आपको होना आवश्यक है। (दोनो मुनि विदेह क्षेत्र से शेर को सम्बोधन करने हेतु आये थे)

प्रश्न—राग का क्या अर्थ है ?

उत्तर—ममत्व भाव जो पर पदार्थ मे राग वह कहलाता है।
इसी राग के कारण प्राणी बन्धन युक्त कहाता है ॥४१४॥

स्व अर्थात् आत्मा, पर अर्थात् शरीर तथा धन धान्य पद वैभव स्त्री आदि। स्व पर से भिन्न है यह इन दोनो शब्दो से ही अर्थ निकल जाता है, लेकिन यह जीव अज्ञान के कारण पर पदार्थो का निज मानता है उनसे मोह करता है यह ही राग कहलाता है। और बन्धन का कारण राग होता है।

प्रश्न—ममत्व भाव कौन करता है ? पर पदार्थो का कर्त्ता भोक्ता कौन है ?

उत्तर—अशुद्ध आत्मा पर को निजकर कर्त्ता उसका बनता है।
अशुद्ध आत्मा है अपराधी कर्त्ता-भोक्ता परका है ॥४१४॥

यद्यपि आत्मा निश्चय नय की दृष्टि से अशुद्ध नही होता, क्योकि जितना भी कर्मो का आवरण है वह तुष माष की तरह शुद्ध आत्मा से भिन्न है, फिर भी ज्ञान पर आवरण आ जाने से आत्मा का स्वभाव बदल जाता है और ऐसी स्थिति मे अपने ज्ञाता दृष्टा स्वभाव को भूलकर अपने

आपको पर का कर्त्ता मानना है, अत आत्मा की इस अज्ञानी स्थिति को अशुद्ध कहने मे आता है। पर का कर्त्ता बनने मे राग पैदा होता है और राग बन्धन का सबसे बडा कारण है। अत. आत्मा की अशुद्ध स्थिति को अपराधी कहने मे आता है।

प्रश्न—आत्मा अशुद्ध कैसे हुआ ?

उत्तर—स्वर्ण खान से निकले तब ही विकृत रूपी होता है।
अनादिकाल से जीवराज भी मोह विकृति वाला है ॥४१५॥

प्रश्न—अशुद्धियो मे सबसे अधिक अशुद्धिकारक मोह ही है, लेकिन मोह की स्थिति भी सत्तर कोड़ा कोड़ी सागर से अधिक नही है, फिर मोह अनादि काल से कैसे चिपका हुआ है ? क्या इस मोह का ध्वस पूर्ण रूप से हो जाता है ?

उत्तर—वृक्षबीज वत् कर्म सन्तति मोह सन्तति चलती है।
वृक्षबीज सन्तति अनादि से चल रही प्रभु की वाणी है ॥४१६॥

कर्म निर्जरा जब होती है अंश शेष कुछ रहता है।
जिस विधि कर्दम तन से उतरे धूलि अंश रह जाता है ॥४१७॥

लेकिन यदि जल से धुल जावे स्वच्छ पूर्ण हो जाता है।
उसही विधि से मोह आवरण यत्न किये हट जाता है ॥४१८॥

जिस प्रकार इस संसार मे वृक्ष से बीज बनता है और बीज से वृक्ष पैदा होता है उसी प्रकार मोह से अज्ञान पेदा होता है और अज्ञान से पुन. मोह के भाव बनकर कर्मबन्ध करते है। यह मोह और अज्ञान की सन्तति वृक्ष बीज सन्तति की तरह अनादि काल से चली आ रही है।

राग द्वेष क्रोधादिक विकृत भावो से प्रतिक्षण कर्मबन्ध होता रहता है। यह कर्मधूलि कहलाती है अर्थात् कर्म पुद्गल हैं, जिस प्रकार किसी का पैर कीचड मे सन जावे लेकिन कीचड़ सूखने पर उसकी पपड़ियां स्वत ही उतर जाती हैं, लेकिन पपडियो के उतर जाने पर भी कुछ धूलि का अंश पैर के लगा हुआ रह जाता है, उसी प्रकार कर्म धूलि भी विपाक काल के आने पर निर्जरित हो जाती है। पैर पर लगी हुई शेष धूलि को यदि जल से धो दिया जावे तो पैर बिल्कुल स्वच्छ हो जाते हैं उसी प्रकार अपने ज्ञाता दृष्टा स्वभाव मे स्थित होने से शेष कर्म धूलि भी हट जाती है और आत्मा बिल्कुल शुद्ध बन जाता है।

प्रश्न—मोह से अज्ञान और अज्ञान से मोह पैदा होता है, फिर हम इनकी सन्तति को किस प्रकार नष्ट कर सकते है ?

उत्तर—जिस विधि बादल नभ मे चलते सघन और हल्के भी है।
उस ही विधि से कर्म आवरण होते लघु अरु भारी है ॥४१९॥
अन्तः कोड़ाकोड़ी सागर मोह समय जब रहता है।
मोह पटल तब लघु बनता है स्व पर ज्ञान हो सकता है ॥४२०॥
स्व पर ज्ञान के होने पर पुरुषार्थ जीव जब करता है।
आत्मलीन होकर वह प्राणी मुक्ति प्राप्त कर लेता है ॥४२१॥
आत्मलीन प्राणी विकल्प बिन आत्मस्थित हो जाते है।
तन मन वाणी पृथक् भासते शुद्ध रूप पा लेते है ॥४२२॥
शुद्ध रूप मे क्रोधादिक ना, शीतल जल दाहक ना है।
शुद्ध रूप से समगुण जो ना, वे होते अपराधी है ॥४२३॥

जिस प्रकार आकाश मे चलने वाले बादल कभी सघन और कभी हल्के होते रहते है, उसी प्रकार इस जीव के कर्म आवरण भी कभी हल्के और कभी भारी बन जाते है। जिस समय कर्मो की पूर्व सत्ता अन्त कोडाकोडी सागर प्रमाण रह जाये और नवीन बध अन्त कोडाकोडी प्रमाण के असख्यातवे भाग मात्र हो, वह भी उस लब्धिकाल से लगाकर घटता जाये और पाप प्रकृतियो का बध क्रमश मिटता जावे उस समय जीव जब तत्त्व विचार मे उपयोग को तद्रूप होकर लगाये उससे समय समय परिणाम निर्मल होते जाते है और सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। सम्यग्दृष्टि जब आत्मलीन होकर कषायो को मन्द करता हुआ मोह को जीतकर लब्धि मे से भी क्षय कर देता है तब केवल ज्ञान पैदा होता है और मुक्ति मार्ग प्रशस्त हो जाता है। जो प्राणी आत्मलीन रहते है उनको सकल्प विकल्प नही होता तन मन वाणी भी उनको प्रत्यक्ष रूप मे पृथक् भासते है। उनके इस शुद्ध रूप मे क्रोधादि नही उत्पन्न होते, जिस प्रकार शीतल जल मे दाहक गुण नही होता।

जो जीव शुद्ध आत्मा के सम गुण नही होते अर्थात् सकल्प विकल्प करते है अपने आपको परका कर्त्ता मानते है वे अपराधी होते है अत उनके कर्मक्षय नही होकर कर्मबध होता रहता है।

प्रश्न—भगवान की बनाई हुई इस दुनिया से मोह करना पाप क्यो है ?

उत्तर—छह द्रव्यों से युक्त यह, संसार इसी का नाम कहा।
स्वयं परिणमन सब द्रव्यो का निर्मापक कोई न रहा ॥४२४॥
सभी द्रव्य यहाँ सत्स्वरूप है स्वतः परिणमन उनका है।
गुण स्वभाव सबके न्यारे हैं गुण स्वभाववत् परिणति है ॥४२५॥

यह संसार स्वचालित है क्रम से और अक्रम से इसमे सब कार्य—द्रव्य क्षेत्र काल भाव के अनुसार स्वत. होते रहते हैं, भगवान कर्त्ता नही है।

प्रश्न—मोह ही ससार बन्धन मे मुख्य कारण है, उदाहरण देकर समझावे ?

उत्तर—मधुमक्खी पुष्पों पर बैठे, भ्रमर कमल में बन्द रहे।
कान्ता मुख सब को प्रिय लागे जग मे इसको मोह कहे ॥४२६॥

सत्स्वरूप यह जीव द्रव्य है निज गुण से है पूर्ण यह।
निज गुण निज स्वभाव हैं निज के पर गुणादि तो पर के हैं ॥४२७॥

तत्व ज्ञान न होने से पर में आसक्ति जग मे है।
पर आसक्ति मोह नाम है, मोह अज्ञान निमित से है ॥४२८॥

ग्राम नगर अरु बाग बगीचे, यान धान्य स्वर्णादिक हैं।
यह सभी पुद्गल है भाई, मूढ़ इन्हे निज कहते हैं ॥४२९॥

परिवारी स्त्री पुत्रादिक, कभी हुए ना निज के हैं।
इन सबको निज कहे ज्ञान बिन, मोही वे कहलाते हैं ॥४३०॥

जो निज हैं वे पृथक् न होते, पृथक् न हों वे ही निज हैं।
पर को निज कहना बन्धन है, मोह नशा यह ही तो है ॥४३१॥

बन्धक ना संसार हमारा, वयं स्वयं ही बंधे हुए।
मोह ग्रंथि ही कारण इसका, हम अज्ञानी बने हुए ॥४३२॥

भाव बन्धन और द्रव्य बन्धन दो प्रकार का बन्धन होता है, द्रव्य का द्रव्य से, द्रव्य का जीव से, जीव का जीव से बन्धन देखा जाता है। लेकिन भाव बन्धन सबसे प्रमुख बन्धन है। स्त्री पुरुष पृथक् पृथक् हैं स्वतन्त्र अपने कर्मोदित फल के भोगने वाले हैं फिर भी पति पत्नी के रूप मे भाई बहन के रूप मे, माता पुत्र के रूप मे पिता पुत्र के रूप मे भाई भाई के रूप मे बधे हुए रहते हैं यह सब भाव बन्धन ही तो है, मनुष्य पशुओ के साथ पक्षियो के साथ वृक्षो के साथ भी भाव बन्धन से ही बंधा

हुआ है यह सब मोह के कारण है। एक दूसरे से मोह करना उनको निज मानना ही बन्धन का कारण है। इसी प्रकार यह जीव मकान से धन दौलत से नगर ग्राम और देश से मोह के कारण भाव बन्धन से बधा हुआ है। यह बन्धन मोह है, मोह से अज्ञान पैदा होता है, तथा अज्ञान से मोह पैदा होता है। भँवरा कमल मे मोह के कारण ही बन्द रहता है। मधुमक्खी मोह से ही पुष्पो पर बैठ कर रस चूसती है। हम हमारी कल्पना से किसी को सुगन्ध और किसी को दुर्गन्ध किसी को सुन्दर और किसी को असुन्दर मानते है, सुगन्ध और सुन्दरता से मोह करते है। सुगन्ध, सुन्दर, सुस्पर्श के साथ मोह सत्ता मे पडा हुआ उभर जाता है। सुख के साधन सब कर्मोदय से मिलते है, लेकिन हम उसमे स्व कर्त्तृत्व मानते है और मानकषाय करते है। कर्त्तृत्व भाव से मोह पैदा होता है और मोह से बन्धन बन जाता है।

एक जीव का जीव से व अन्य द्रव्यो से पृथक्त्व इस प्रकार है—

१ -प्रत्येक जीव सत्स्वरूप तथा स्वगुणो से पूर्ण है, अत न तो स्वहित के लिये किसी अन्य जीव की और न पुद्‌गल आदि अन्य द्रव्यो की आवश्यकता है। धर्म, अधर्म, काल और आकाश यह चारो द्रव्य जीव और पुद्‌गल का मौन रहकर उपकार करते हैं, यह उपकार स्वत सुनिश्चित है, किसी की प्रेरणा से यह उपकार होता हो ऐसा नही है।

२ -इस जीव का सबसे ज्यादा बन्धन पुद्‌गल से होता है, यह जीव मे जो अज्ञान है उस कारण से होता है। इसके निम्नलिखित कारण है—

१—जीव सत्स्वरूप है, उसी प्रकार पुद्‌गल का भी एक-एक अणु सत्स्वरूप है। इस ज्ञान से जीव अनभिज्ञ है।

२—जीव का स्व स्वभाव व गुणानुसार परिणमन होता है, तथा स्व परिणमन का जीव कर्त्ता है। पुद्‌गल का भी स्व गुण व स्वभावानुसार परिणमन होता है, पुद्‌गल के स्व परिणमन का पुद्‌गल ही कर्त्ता है। लेकिन जीव निज को कर्त्ता मानता है जैसे कुम्हार निज को घट का कर्त्ता मानता है।

३—जीव पुद्‌गल का कर्त्ता नही है, पुद्‌गल जीव का कर्त्ता नही है, फिर भी जीव पुद्‌गल का कर्त्ता बन जाता है।

३—ज्ञानी जीव ज्ञान भाव का व अज्ञानी जीव अज्ञान-भाव का कर्त्ता है।

४—राग द्वेष व मोह अज्ञानी जीव का परिणमन है। इसीलिये अज्ञानी जीव इन भावो का कर्त्ता बन जाता है। कर्तृत्व भाव वन्धन का कारण बनता है और इस प्रकार उसका ससार बन्धन बना रहता है। मनुष्य निज अज्ञान के कारण से ही, पर-वस्तुओ को जो कि निश्चय से उसकी हित कारक नही है, उनसे मोह करता है, राग करता है, द्वेष करता है।

५—जीव के हितकारक उसके ज्ञान व दर्शन गुण है। क्योकि वे अनादि काल से उसके है उसमे रहते है, अनन्त काल तक उसके रहेगे, उसमे रहेगे। जो निज की वस्तु होती है वह कभी पृथक् नही होती है, जो पृथक होती है वह निज की नही होती।

६—कर्म, नोकर्म, राग द्वेप मोह के भाव, ससार की सभी वस्तुये जीव की नही है अत उससे पृथक् हो जाती है।

७—कर्म आत्मा से पृथक् ही रहते है, लेकिन दूध ओर पानी की तरह मिले हुए रहते है। आत्म प्रदेशो मे अवगाह शक्ति है अत कर्म परमाणु आत्मा के साथ चिपके हुए रहते है।

८—हम स्वय पर वस्तु को निज मानकर बधे हुए है, पर मे निज भाव ही बन्धन है, जब हम भाव रूप से पर मे निज बुद्धि का त्याग कर देगे तब बन्धन से मुक्त हो जायेगे।

प्रश्न—मोह को हटाने का क्या उपाय है?

उत्तर- **निज पर का जो भेद जानले, निज स्वरूप सम्यक जाने।**
मोह ग्रन्थि वह निश्चित तोड़े, निज को पर से पृथक् करे ॥४३३॥

जो जीव निज और पर का भेद जान लेता है, तथा अपने स्वभाव व गुणो को भलीभाति जान लेता है, वह यह समझ लेता है कि मैं अपने गुणो के कारण अपने आप मे पूर्ण हूँ, मुझे पर के एक कण की भी आवश्यकता नही है, अत पर द्रव्य या परजीव मेरे हितकारक नही है, इस प्रकार ज्ञान उत्पन्न होने से उसकी मोह ग्रन्थि स्वयं टूट जाती है।

प्रश्न—ज्ञान आवरण कैसे दूर हो?

उत्तर—निज मे स्थित होना सीखो, आत्म स्थिति है सत्य उपाय ।
निज में स्थित निज को देखे वह आवरण शीघ्र भगाय ॥४३४॥

ज्ञाता दृष्टा जब बन जावे साम्य भाव निज के प्रकटाय ।
संकल्प और विकल्प त्याग दे ज्ञान आवरण वह हटाय ॥४३५॥

जो जीव निज और पर का भेद जान लेते है वे पर से निज राग भावो को हटाकर निज मे स्थित होते है । निज मे स्थित होकर निज का अपने ज्ञाता दृष्टा स्वभाव का अनुभव करते है, उनके सकल्प बुद्धि छूट जाती है क्योकि पर भाव व पर कार्यो का कर्त्तृत्व भाव नही रहता । ससार के सभी कार्य द्रव्य क्षेत्र काल भाव के अनुसार स्व परिणमन से होते है, तथा जैसे-जैसे कर्मो का उदय होता है वैसे ही भाव बनते है अर्थात् भाव भी पर के कारण ही पैदा होते है अत इन कार्यो व भावो का कर्त्ता मै नही हू । यह समझ कर वह सभी तरह के सकल्पो का त्याग कर देता है । वह पर वस्तु निर्माण या हानि, पर या स्व के सुख दुख मे किसी तरह का विचार भी नही करता क्योकि सुख दुख तो कर्मोदयजन्य होते है और पुद्गल निर्माण या हानि द्रव्य क्षेत्र काल भाव के अनुसार स्वत होती है अत विकल्पो से भी दूर रहता है । इस प्रकार सकल्प विकल्प रहित जब ज्ञाता दृष्टा बन कर रहता है तब उसके पर वस्तु मे मोह का क्षय होने से वह ज्ञान आवरण को हटाने मे समर्थ हो जाता है ।

प्रश्न—आत्म स्थिति कैसे करे ?

उत्तर—आत्म प्राप्ति की लग्न तुम्हारे हृदय कमल मे पैदा हो ।
लग्न बने मन स्थित होवे आत्म प्राप्ति इस विधि से हो ॥४३६॥

सतत साधना सम्भव कर दे कार्य असम्भव भी यदि हो ।
लक्ष्य बनाकर तुम जुट जावो आत्म स्थिति निश्चित ही हो ॥४३७॥

किसी विषय की गूढ़ चिन्तना जब तुम प्रतिदिन करते हो ।
चिन्तन कर्त्ता मै आत्मा हूँ, इस विधि तुम को निश्चय हो ॥४३८॥

यद्यपि आत्मा चिन्तन भी वह नही किसी का करता है ।
क्योकि आत्मा निज स्वभाव से केवल ज्ञाता दृष्टा है ॥४३९॥

लेकिन आत्म चिन्तना निश्चित आत्म प्राप्ति मे साधक हो ।
अतः आत्म चिन्तन अभ्यासी आत्म स्थिति का कारक हो ॥४४०॥

आत्म स्थिति के लिये सकल्प विकल्प रहित निज ज्ञाता दृष्टा स्वभाव का प्रतिक्षण चिन्तन आत्मस्थिति कर देता है।

प्रश्न--मोहनीय कर्म की अधिकतम स्थिति सत्तर कोडाकोडी सागर है और ज्ञानावरण कर्म की बीस कोडाकोडी सागर अधिकतम स्थिति षट्खण्डागम मे स्वीकार की है, स्व और पर दृष्टि के भेद से किस प्रकार एक श्वास मे इतनी बडी स्थितिया समाप्त की जा सकती है ?

उत्तर–प्रवचन सार की गाथा २३८ मे इसका उत्तर इस प्रकार दिया है।

जे अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसय सहस्स कोडीहिं।
ते णाणी तिहि गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण॥

जिन कर्मों को यह अज्ञानी लक्ष कोटि भव मे छेवे।
उन कर्मों को एक श्वास मे हो त्रिगुप्त ज्ञानी छेवे॥

अत —

सात तत्व का अर्थ समझ कर निश्चल श्रद्धा जो करता।
प्रभु सम्यग्दृष्टि कहें उसे वह सम्यग्ज्ञानी भी बनता॥४४१॥

सम्यग्ज्ञानी जन निश्चय से आत्मानुभूति कर लेता है।
आत्मलीन होकर ज्ञानी सम्यक्चारित्री बनता है॥५४२॥

जो आत्मलीन होकर रहता त्रिगुप्त वही कहलाता है।
मन वचन काय की चंचलता को वह निजवश में करता है॥४४३॥

ऐसा ज्ञानी स्व को जाने अरु पर से दृष्टि हटाता है।
वह दृष्टि भेद के कारण ही चिरबद्ध कर्म क्षय करता है॥४४४॥

उदाहरण—

उत्तर मे हिमवन पर्वत है अरु विंध्यगिरी दक्षिण में है।
जो मानव लंकाभिमुखी वह हिमवन ना जा सकता है॥४४५॥

लेकिन यदि ज्ञानी बने वह अरु उत्तराभिमुख होता है।
दिक् परिवर्तन से मानव वह हिमवन पर निश्चय जाता है॥४४६॥

इस विधि से ही ज्ञानी प्राणी अतिक्षिप्र कर्म क्षय करता है।
कर्मों का क्षयकर वह ज्ञानी अक्षय सुख पा लेता है॥४४७॥

निज शुद्ध दृष्टि जब सफल बने वह निज स्वभाव को पाता है।
वह दृष्टि भेद ही है जग मे जो आत्म शुद्ध कर देता है ॥४४८॥

प्रश्न—पर के एक कण मे भी जिसका राग है वह सम्यक् दृष्टि नही है इसका क्या कारण है ?

उत्तर—आत्मप्रभु आनन्द कन्दघन गुण अनन्त का धारी है।
है स्वभाव से ज्ञान स्वरूपी अविनाशी सुखमय यह है ॥४४९॥

जो इसकी पहचान न जाने वही राग पर मे रखता।
पर का कण भी सत्स्वरूप है पर निज का ना हो सकता ॥४५०॥

निज पर की जो सत्ता जाने दोनो के गुण पहचाने।
निजानन्द मे लीन वही है निजानन्द वह ही जाने ॥४५१॥

निजानन्द घन जिसने जाना पर से दृष्टि हटी उसकी।
पर कण मे भी राग न उसका सम्यक् दृष्टि बनी उसकी ॥४५२॥

सीमातीत आनन्द उसी का सीमातीत सुख उसका है।
दर्शन ज्ञान अनन्त उसी का नमन योग्य वह जग मे है ॥४५३॥

पर मे राग होने का अर्थ है कि वह पर वस्तु को निज वस्तु मानता है। पर वस्तु का अर्थ है कि, आत्मा—असख्य प्रदेशमय है—आत्मा ज्ञान दर्शन उपयोगमय है, आत्मा, रूप रस गन्ध स्पर्श व शब्द से रहित है। आत्मा का एक भी लक्षण ऐसा नही है जिससे उसकी तुलना या समानता पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश व काल किसी भी द्रव्य से की जा सके अर्थात् आत्मा का स्वभाव व गुण आत्मा मे ही है अन्य द्रव्यो मे नही, तथा अन्य द्रव्यो के स्वभाव व गुण अन्य द्रव्यो मे ही है आत्मा मे नही। ऐसी स्थिति मे पर पदार्थ का एक कण भी आत्मा नही है, अत. पर के एक कण को भी निज मानना उसमे ममत्व भाव रखना मिथ्यात्व है, असत्य है, झूठा ज्ञान है, जिसका ज्ञान झूठा है असत्य है उसका ज्ञान सम्यक् नही है अर्थात् सत्य नही है ऐसी स्थिति मे उसकी दृष्टि सम्यक् दृष्टि नही हो सकती। आत्मा अनन्त आनन्द स्वरूप है, जब आत्मा निज स्वभाव मे आ जाता है तब जो आनन्द सुख उत्पन्न होता है उसका शब्दो से वर्णन नही किया जा सकता। जिस आत्मा के ज्ञान दर्शन वीर्य और सुख अनन्त है उसका आनन्द भी अनन्त है। जो इस वस्तु स्थिति को न

जाने वह ही पर के कण मे ममत्व भाव रख सकता है अत उसकी दृष्टि सम्यक् नही है तो यह स्वत सिद्ध है ।

दृष्टि को पर मे हटा कर निज की ओर मोड-दो वस यही मोक्ष-का मार्ग है ।

प्रश्न—कर्म वन्धन को और स्पष्ट करे ?

उत्तर—जो कार्य जगत में होते हैं वे कर्म सभी कहलाते हैं ।
करने वाला कर्त्ता यन्ता विधि उनकी क्रिया कहाती है ।।४५४।।

संसारी जो अज्ञानी हैं वे कर्म क्रिया निज कहते हैं ।
निज के कहने वाले प्राणी कर्मों में राग दिखाते हैं ।।४५५।।

निज राग भाव जग कर्मों मे-रखना ही वन्धन होता है ।
ना कर्म बंधे ना क्रिया बंधे निज राग वन्ध कहलाता है ।।४५६।।

छोटी से छोटी वस्तू को यदि मानव निज की कहता है ।
मानव वस्तू से बंध जावे अरु वन्धन यही कहाता है ।।४५७।।

यदि वस्तु नष्ट हो यह प्राणी फिर राग न उससे रखता है ।
वन्धन भी उसका नही रहे वह मुक्ति वस्तु से पाता है ।।४५८।।

आत्मा स्वरूप ज्ञाता दृष्टा परमार्थ ज्ञान है सच्चा है ।
इस सत्य तत्व को जो जाने वह कर्त्ता भाव न रखता है ।।४५९।।

जग में जो कार्य बनें प्रतिदिन वह द्रव्य परिणमन होता है ।
प्राणी के भाव निमित्त बनें प्राणी ना उसका कर्त्ता है ।।४६०।।

ज्ञाता दृष्टा जाने देखे वह कार्य नहीं कर सकता है ।
प्रतिक्षण जो भाव धरे ऐसे वह मोह नाश कर देता है ।।४६१।।

कार्यो मे गति, स्थिति उनमे ही धर्म अधर्म द्रव्य से है ।
ना आत्म द्रव्य गति स्थिति दे वह तो ज्ञायक निजगुण से है ।।४६२।।

अत. भाव कर्त्तापन के मिथ्या जग मे कहलाते हैं ।
मिथ्यात्वी जब तक जीव रहे वे कर्त्ता निज को कहते हैं ।।४६३।।

यह सत्य मोक्ष को दाता है कर्मो का बन्ध हटाती है ।
कर्तृत्व बुद्धि मिथ्यात्व कही यह जग मे भ्रमण कराती है ।।४६४।।

जो सत्य तत्व स्वीकार करे आचरण उसी का करता है ।
भारी से भारी वन्धन को वह क्षण मे दूर हटाता है ।।४६५।।

कर्मबन्धन को समझना आवश्यक है, क्योकि कर्मबन्धन के कारण ही यह जीव ससार मे चौरासी लाख योनियो मे भ्रमण करता है। कर्म-बन्धन मे कर्म और बन्धन यह दो शब्द है जो भी कार्य- किया जाता है, व्यवहार मे उसके करने वाले को कर्त्ता कहते है, तथा कार्य के करने की प्रणाली क्रिया कहलाती है, क्रिया का जो फल होता है वह कर्म कहलाता है। द्रव्यो मे क्रिया धर्म, द्रव्य व अधर्म द्रव्य के कारण से है। धर्म द्रव्य के बिना गति और अधर्म-द्रव्य के- बिना स्थिति सम्भव- नही है, लेकिन अज्ञानी जीव गति स्थिति मैंने की, मेरे द्वारा हुई यह-- मानता है यह मिथ्यात्व है जो कि कर्म बन्ध का कारण है, यद्यपि धर्म अधर्म गति स्थिति मे मौन सहायक है लेकिन यह निश्चय है कि इन दोनो द्रव्यो के बिना संसार मे गति स्थिति सम्भव नही है। पर के निमित्त से होने वाले कार्य को कहना मिथ्यात्व होता है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि गति स्थिति मे प्रेरक कौन है? इसका उत्तर यह है कि प्रेरणा का अर्थ भावो का पैदा होना है, सभी तरह के भाव कर्म उदय से पैदा होते है, ज्ञाता दृष्टा आत्मा व्यवहार मे तो उन भावो का कर्त्ता है, लेकिन निश्चय से वह उन भावो का भी ज्ञाता दृष्टा ही है कर्त्ता नही है, अत निश्चय नयाश्रित होकर- जो भावो का भी ज्ञाता दृष्टा बनकर रहता हे वह कर्मो से नही बधता क्योकि ज्ञाता दृष्टा, भावो को भी जब निज नही मानता तो भाववश जो कार्य बने उनको निज का कैसे मानेगा, कार्य को निज न मानने वाला उस कार्य के फल मे राग नही रखता और राग के बिना बन्धन नही होता, ज्ञाता दृष्टा इस स्वचालित ससार के कार्यो का अपने आपको केवल निमित्त मानता है कर्त्ता नही, और कर्तृत्व बुद्धि-के बिना राग- और- राग-के बिना बन्धन नही हो सकता। लेकिन जो जीव-कर्मफल को वेदन करता हुआ उस कर्मफल को निज मानता है वह पुन कर्मबन्ध करता है। जो उसको वेदन करता है निज को केवल ज्ञाता दृष्टा मानता हे वह कर्मबन्धन मे नही बधता।

व्यवहार नय से यह जीव पर का कर्त्ता भोक्ता है, जिस प्रकार एक उन्मादी अपने आचरण का स्वय ही कर्त्ता है, लेकिन जब वह उन्मादी स्वस्थ हो जाता है वह-उन्माद अवस्था के कार्यो का अपने आप को कर्त्ता स्वीकार नही करता तथा दूसरे आदमी भी उन्माद अवस्था के कार्यो का

स्वस्थ मानव को कर्त्ता नही मानते । वस यही अवस्था ससारी जीव की है, मिथ्यात्व के उदय से यह जीव पर कार्यो का अपने आपको कर्त्ता-भोक्ता मानता है और पुन पुन कर्तृत्व और भोक्तृत्व बुद्धि के कारण पर मे राग द्वेष मोह रखता हुआ कर्मबन्ध कर ससार भ्रमण करता है, मिथ्यात्व के नष्ट हो जाने पर वह ज्ञानी बन जाता है और इस स्वचालित ससार के स्वरूप को तथा अपने ज्ञाता दृष्टा स्वभाव को समझकर पर के कार्यो का न तो अपने आपको कर्त्ता न भोक्ता मानता है, अत राग के अभाव से वह कर्मवन्ध मे नही वधता ।

प्रश्न कर्म वर्गणा का क्या अर्थ है, कर्म वर्गणाये कर्म रूप परिणमित कैसे होती है ?

उत्तर—कर्मवर्गणायें पुद्गल है, तीन लोक में भरी हुई ।
कर्म रूप परिणमन इन्हीं का जीव भाव वश, कहा यही ॥४६६॥
कर्म उदयवश भाव सृष्टि हो भावों के वश कर्म बनें ।
उन भावो को जो निज मानें कर्मबन्ध मे वही सनें ॥४६७॥

जव कपाय क्रोधादिक उपजें आभा मण्डल तथा वने ।
लेश्यानुसार रंगमय मण्डल वन कर्म वर्गणा को रंग दे ॥४६८॥

अति लघु धूम्र पटल भी जिस विधि रविप्रकाश आवृत कर दे ।
उसी विधि से कर्म वर्गणा आत्मज्ञान आवृत करदे ॥४६९॥

तब आत्मा अज्ञानी वनता अज्ञान आचरण वह करे ।
निज गुण भूले वह अज्ञानी पर में रागभाव रक्खे ॥४७०॥
पर मे राग भाव वन्धन है कर्म वीज भी राग कहा ।
कर्मों का यह भेद समझलो वीर प्रभु ने यही कहा ॥४७१॥

जब पड़ोस वासी मर जावे रागभाव विन दुख ना हो ।
उसी विधि से राग भाव विन नहीं कर्म का वन्धन हो ॥४७२॥

यह तीन लोक पूर्ण रूप से कर्म वर्गणाओ से भरा हुआ है । कर्म-वर्गणाये पुद्गल है । जब [illegible] यह जीव अपने भाव बनाता है तब वहा स्थित कर्मवर्गणाये कर्म रूप परिणमित हो जाती है । जब क्रोध उत्पन्न होता है तब उस प्राणी का आभा मण्डल रक्तिम बन जाता है । और क्रोध के कारण वहा स्थित कर्मवर्गणाये रक्त वर्ण की बन जाती

है, अथवा यो कहे कि कपाय का तीव्र या मन्द रूप तरतम के भेदो के अनुसार आभा मण्डल मोस्थित कर्म वर्गणाओ को रग देता है, तथा आत्म प्रदेशो के साथ अवगाह करके ज्ञान का आवरण करता है। जिस प्रकार धूम्र, प्रकाश के साथ अवगाह कर प्रकाश को आवृत करती है, उसी प्रकार कर्म वर्गणाये ज्ञान का आवरण करती है। आत्मा के क्रोधादिक भाव व कर्म वर्गणाये आत्मा से भिन्न है, क्योकि क्रोधादिक भाव कर्म उदय के निमित्त से पैदा होते है, भावो के अनुसार कर्म रचना होती है। लेकिन अज्ञानी आत्मा क्रोधादिक भावो को निज भाव मानता है, किसी भी वस्तु को निज कहना अर्थात् उसके साथ ग्रन्थि बनाना बन्धन बनाना है, अत क्रोधादिक भाव जो पर के निमित्त से पैदा होने से पर है, उनमे निज बुद्धि बन्धन है। क्रोधादिक भी कार्य है, अर्थात् कर्म है और कर्म मे निज बुद्धि ही कर्म बन्धन है।

कर्म वर्गणाओ के कारण ज्ञान पर आवरण आता है, अर्थात् ज्ञानी आत्मा अज्ञानी बन जाता है, अज्ञानी के आचरण भी अज्ञान मय ही होते है, अत अज्ञानी आत्मा क्रोधादिक विकारो को निज कृति मानता है। जिसके कारण कर्म बन्ध हो जाता है। पर मे निज भाव या रागभाव ही कर्म का बीज है, अत इस भेद को समझो कि कर्म बन्धन कोई भूत नही है, वह अज्ञानी जीव की सृष्टि है।

यदि कोई पडोसी मर जावे तो दुख नही होता, क्योकि पडोसी मे राग नही है, लेकिन स्वय का पुत्र या स्त्री यदि, बीमार भी होवे तो दुख होता है क्योकि उसके साथ रागभाव है।

वीर प्रभु ने यह कहा है कि आत्मा केवल ज्ञाता दृष्टा है, वह निज गुणानुरूप आचरण करता है, अत विकारी भाव उसके नही है। वह पर वस्तु का कर्त्ता भी नही है, अत ससार से मोह त्याग कर अपने आप मे स्थित होवो। अर्थात् सम्यग्दर्शन ज्ञान व चारित्र ही मोक्ष का मार्ग है। अत आत्मस्थित रहना केवलज्ञान होने मे परम सहायक है।

प्रश्न—आत्मानुभव हो गया है, इसका क्या पहचान है?

उत्तर—आतम अनुभवी जो पाणी है मन तन इन्द्रिय पृथक् लखें।
वाणी वक्ता भी मै ना हूँ इस विधि अनुभव वह करें ॥४७३॥

जिनको आत्मानुभूति हो जाती है, वे स्वय जान लेते हैं मैं आत्मा

है। उनको दूसरे से पूछने की आवश्कता नही होती। उनको मन तन और पाचो इन्द्रिया स्पष्ट पृथक् अनुभव मे आतो है जिस प्रकार एक मकान मे रहने वाला मकान मे रहते हुए भी मकान को अपने आपसे पृथक स्पष्ट रूप मे देखता है, उसी प्रकार अपने आपको जब यह आत्मा स्पष्ट रूप से पृथक् अनुभव करता है तथा देखता है तव समझिये कि आत्मानुभव हो गया है।

प्रश्न—राग-द्वेष मोह व क्रोधादिक कषाये आत्मा मे पैदा होते हैं फिर भी आत्मा से भिन्न क्यो है ?

उत्तर—अमर वेल जिस तरु पर फैले रस चूसें निज वृद्धि करे।
फिर भी वृक्ष स्वभावी वह ना, अतः वृक्ष ना उसे कहे ॥४७४॥

पृथक् स्वत्व उस वल्ली का है, अत वृक्ष से पृथक् रहे।
गुण स्वभाव भी पृथक् वृक्ष से अमर वेल ही वह रहे ॥४७५॥

वल्ली पर है, आगन्तुक है, अतिथि सम स्थिति उसकी।
पोषक रस दोनो का सम है, फिर भी सम वह नहीं बनी ॥४७६॥

इसी तरह राग क्रोधादिक आत्म संग ना आत्म बने।
भिन्न स्वभावी गुण वाले हैं अत. भिन्न सब उन्हें गिने ॥४७७॥

अमरवेल सम साथ रहे वे अतिथि सम आना जाना।
वेल बढे वृक्ष गुण नाशे रागादि बढे तो धर्म भुलाना ॥४७८॥

वृक्ष ज्ञान विन यह ना जाने किस विधि वल्ली दूर हटाना।
अज्ञानी आत्मा ना जाने रागादिक को दूर भगाना ॥४७९॥

निज स्वभाव भूले अज्ञानी कर्त्ता पर का वने वह।
इसीलिए क्रोधादिक मेरे मूढमति वन कहे वह ॥४८०॥

आपने अमरवेल को देखा होगा वह किसी वृक्ष पर या अन्य वेल पर फैलती है अमरवेल के जड़ नही होती वह जिस वृक्ष या वेल पर फैलती है उसी का रस ग्रहण करती है और उसका जीवन यापन होता है। जिस पेड़-पौधे का रस ग्रहण करती है उस पेड़-पौधे के गुण-भिन्न होते हैं व अमरवेल के भिन्न, दोनो का स्वभाव भी भिन्न होता है, दोनो अपनी पृथक्-पृथक् सत्ता वाले है। अमरवेल वृक्ष मे पर है वह एक अतिथी के समान आगन्तुक है, जिस तरह कोई अतिथि बहुत समय तक घर मे

रहे तो उस घर को जिसका भोजन व जल ग्रहण करता है उसको हानि-प्रद साबित होता है। उसी प्रकार अमरबेल जिस वृक्ष पर फैलती है जिस वृक्ष का रस ग्रहण कर जीवन व्यतीत करती है उसी वृक्ष को सुखा देती है।

इसी प्रकार कोधादिक कषाये नोकषाये राग-द्वेष मोह वगैरह विकृतिया जिस अज्ञानी आत्मा मे पैदा होती है उसका अज्ञान वढाकर धर्म का नाश करती,हे। क्रोधादि कषाये मोहाच्छन्न अज्ञानी आत्मा मे पैदा होती हैं अर्थात् विकृतियो की उत्पत्ति विकृतियो के निमित्त से व अज्ञान के निमित से पैदा होती हे। शुद्ध आत्मा तो ज्ञाता दृष्टा होता है वह न क्रोध उत्पन्न करता हे और न मोह। अनादिकाल से आत्मा तो ज्ञाता दृष्टा है, वर्तमान मे भी ज्ञाता दृष्टा है और भविष्य मे भी ज्ञाता दृष्टा ही रहेगा। आत्मा मे मोह के निमित्त से अज्ञान पैदा होता है और अज्ञान इन क्रोधा-दिक बुराइयो के पैदा होने मे निमित्त कारण है। शुद्ध आत्मा इनका कर्त्ता नही है, शुद्ध आत्मा मे बुराइया नही है, अत यह विकृतिया शुद्ध आत्मा से भिन्न हैं और अशुद्ध आत्मा से अभिन्न है। जिस तरह खारी रोटी का स्वाद खारी रोटी से अभिन्न है, लेकिन खारापन स्वय रोटी से भिन्न है, क्योकि खारापन नमक के कारण से है रोटी के कारण से नही।

वृक्ष पर जो अमरबेल फैलती है वह वृक्ष को सुखा देती है लेकिन अज्ञानी वृक्ष उस वल्ली को हटाने मे समर्थ नही है, उसी प्रकार अज्ञानी आत्मा, धर्म को भुला देने वाली इन विकृतियो को दूर हटाने मे समर्थ नही है।

प्रश्न—आप ससार को एक नाटक शाला मानते है लेकिन हम नाटक के पात्रो की तरह नही, हम तो कार्य करते है, जो भाव करते है उनका कर्त्तृत्व स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि हम स्वय ही कर्त्ता है अत आपका तर्क समझ मे नही आता।

उत्तर—जब तक तुमको भेद ज्ञान ना क्रोधादिक के कर्त्ता हो।
जब तक तुमको भेद ज्ञान ना राग-द्वेष मय तुम ही हो ॥४८२॥

ग्राम देश अरु महल बगीचा पृथक् तुम्हारे तन से हैं।
स्वामित्व शब्द का ज्ञान नही, स्वामित्व अतः इन सबका हैं ॥४८३॥

तुम खाते हो तुम पीते हो तुम ही उच्चारण करते हो।
रूप नेत्र से तुम ही देखो कानो से तुम सुनते हो ॥४८४॥

शीत ऊष्ण को तुम ही जानो सन्तानोत्पत्ति तुम करते हो।
मंत्री बन शासन तुम करते, राजा बन राज चलाते हो ॥४८५॥

भेद ज्ञान बिन रे अज्ञानी, इन सबके कर्त्ता तुम ही हो।
कर्त्ता तुम हो, बन्धक बन इस जग मे तुम ही फिरते हो ॥४८६॥

आत्मा से कर्म और नोकर्म शरीर भिन्न है—

आत्मा, उपयोग स्वरूपी, दर्शन ज्ञानमयी व चेतन है ।

आत्मा स्वभाव से ज्ञाता दृष्टा है अत कर्मों का कर्त्ता नही है।

आत्मा न कर्मो का कर्त्ता है और न कर्मफलो का भोक्ता है।

शुद्ध आत्मा केवल ज्ञान दर्शन रूप परिणमन करता है।

राग द्वेपादिक भाव चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से होते है। अर्थात् पर के निमित्त से होते है, अत शुद्ध आत्मा राग द्वेपदिक का भी ज्ञाता ही है, कर्त्ता नही है।

—यह भेद ज्ञान होना जरूरी है तब ही आत्मा कर्मबन्ध से बच पाता है—भेद ज्ञान के विना आत्मा स्वय को कर्त्ता मानकर कर्मबन्ध करता है।

प्रश्न—भेद ज्ञान न होने से ही यह जीव वन्धन युक्त है भेद ज्ञान होने पर मुक्ति का मार्ग प्रशस्त हो जाता है ऐसी आचार्यो की उक्ति है, अत इसको स्पष्ट करे।

उत्तर—सप्त तत्व अरु पुण्य पाप का ज्ञान वस्तु का दर्पण है।
वस्तु तत्व सम्यक् ज्ञाता ही बनता जगत् शिरोमणि है ॥४८७॥

आत्मा पृथक् अन्य द्रव्यों से, ज्ञान यह आवश्यक है।
आत्म तत्व स्वरूप ज्ञान ही कर्म बन्ध अवरोधक है ॥४८८॥

आत्म तत्व है निज स्वभाव से, शुद्ध एक निश्चय से है।
दर्शन अरु वह ज्ञानमयी है हीन पौद्गालिक गुण से है ॥४८९॥

ज्ञाता दृष्टा निज का परका, कर्त्ता भोक्ता निज का है।
है ज्ञान शक्ति इसकी अनन्त जिससे यह ज्ञायक जग मे है ॥४९०॥

कर्त्ता भोक्ता पर का ना है, पर मे प्रवेश इसका ना है।
ना पर प्रवेश इसमे करता यह वस्तु स्वरूप जगत मे है ॥४९१॥

है ज्ञान तत्व सबसे पवित्र इस सम जग मे कोई और न है।
स्वभाव भिन्न अपवित्र राग का कर्त्ता यह आत्मा ना है ॥४६२॥

तम भिन्न उजाले से जग में अज्ञान ज्ञान से भिन्न सदा।
रागादिक अज्ञान निमित्त जो भिन्न आत्म से रहे सदा ॥४६३॥

यदि स्वर्ण साथ में लौहादिक विकृतिया आकर रहती हैं।
ना स्वर्ण परिणमन से विकृति यह युक्ति समझ मे आती है ॥४६४॥

आत्म प्रदेशो के संग मे है कर्म धूलि जो मिली हुई।
अवगाह परस्पर होने से है क्षीर नीरवत् सटी हुई ॥४६५॥

उन्मादी का उन्माद कभी भी पृथक् दृश्य ना होता है।
पर, मनुज स्वस्थ जब होता है वह स्वत पृथक् रह जाता है ॥४६६।

इस विधि अज्ञानी आत्मा भी यह राग-द्वेष मयहै दिखता।
जब ज्ञान प्रकट हो जाता है वह स्वतः पृथक् उनसे होता ॥४६७॥

इस विधि जो जीव जगत में है वे है स्वभाव से शुद्ध सभी।
पर्याय अशुद्धि उनमे है वे नही अशुद्ध स्वभावी भी ॥४६८॥

एकेन्द्रियादि से भेद नही, ना भेद लिंग से होता हे।
है सभी जीव चेतन स्वरूप जो दर्शन और ज्ञानमय है ॥४६६॥

इस विधि समदृष्टि जो बनते है निज शुद्ध रूप के ध्यानी है।
वे निश्चय कर्म मुक्त होवे, विपरीत दृष्टि ससारी है ॥५००॥

प्रभुकहे जगत के भव्यो से तुम भेद ज्ञान का पाठ पढ़ो।
बन पृथक् सभी विकृतियो से निज शुद्धातम मे वास करो ॥५०१॥

भेद ज्ञान का होना आवश्यक है, जिस प्रकार न्यारिया ताम्र चादी लौह आदि से अपने भेद ज्ञान के कारण स्वर्ण को पृथक् कर लेता है, उसी प्रकार आत्मा के ज्ञातादृष्टा स्वभाव को जानने वाला, आत्मा के चेतन स्वरूप और उपयोगस्वरूप को जानने वाला कर्म और नोकर्म से निज आत्मा को भिन्न कर लेता है, तथा आत्मा के स्वभाव मे आ जाने के कारण उसके ज्ञान दर्शनादि अनन्त गुणो को प्रकट कर अनन्त आनन्द को प्राप्त कर लेता है।

प्रश्न—क्या भाव कर्म भी शुद्धात्मा से भिन्न है ? उदाहरण देकर समझावें।

उत्तर—है ऊष्ण परिणमन उस जल का जो अग्निसंगवश ऊष्ण बने।
लेकिन विपरीत स्वभाववती पावक से तो वह पृथक् रहे ।।५०२।।

उन्मादी के जो भाव बनें उस रूप आचरण वह करे।
वे भाव सभी उन्मादी के वे स्वस्थ मनुज से पृथक् रहें ।।५१३।।

जिस प्रकार जल का ऊष्ण परिणमन अग्नि के कारण से है, स्वय जल के कारण नही है। जिस प्रकार उन्मादी के उन्मत्त भाव उन्माद रोग के कारण होते है, वे स्वस्थावस्था के कारण नही है, वे कर्मोदय के निमित्त से उत्पन्न विकृतियो के कारण है।

मानव गति मे जो उन्मादी अज्ञानी वे कहलाते हैं।
उनके जो भाव बनें वे सब अज्ञानपूर्ण ही होते हैं ।।१।।

लेकिन उन्माद हटे तब ही उन्माद भाव हट जाते है।
सम्बन्ध नहीं उनसे रहता वे पृथक् मनुज से होते हैं ।।२।।

इस विधि अज्ञानी प्राणी के सब भाव कर्म निज होते हैं।
लेकिन जब वह ज्ञानी बनता सब कर्म पृथक् हो जाते हैं ।।३।।

इसीलिये शुद्धात्मा से ये भाव कर्म सब हैं न्यारे।
शुद्धात्मा से सम्बन्ध नहीं यह ज्ञान मोक्ष दाता हैरे ।।४।।

प्रश्न–आत्मा के ज्ञान और दर्शन की अनन्त शक्ति कहा छिपी हुई है ? इसको कैसेप्राप्त करे ?

उत्तर–असंख्य प्रदेशी यह आत्मा हर प्रदेश हो ज्ञानी है।
राग-द्वेष अरु मोह आवरण से बनता अज्ञानी है ।।५०४।।

जैसे जल शीतल स्वभाव भी अग्नि संग वश ऊष्ण बने।
अग्नि हटे वह फिर शीतल हो निज स्वभावयुत वह बने ।।५०५।।

उसी विधि मे यह आत्मा मोह हटे ज्ञानी बनता।
ज्ञान और दर्शन निज गुण की पूर्ण शक्ति को वह पाता ।।५०६।।

आत्मा अनन्त चतुष्टय वैभव स्वरूप है, अर्थात् अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन अनन्त वीर्य और अनन्त सुख आत्मा के शुद्ध रूप में विद्यमान है,

लेकिन ससारी जीव का आत्मा मोहाच्छन्न होने के कारण अशुद्ध कहने मे आता है, यद्यपि वह अशुद्धि तुप भाप की तरह आत्मा से भिन्न है, परन्तु उस अशुद्धि के कारण आत्मा का स्वभाव ही बदल गया है और वह अपने ज्ञाता दृष्टा स्वभाव को भूलकर अपने आपको पर पदार्थ का स्वामी मानना है, जिस प्रकार जल ऊष्ण होकर अपने शीतल स्वभाव को छोड़-कर जलाने लगता है उसी प्रकार अशुद्धियो के कारण आत्मा क्रोधादिक करता हैं। लेकिन जल के नीचे से अग्नि को हटा लिया जावे तो वह धीरे-२ ठण्डा होकर पुन शीतल स्वभाव को प्राप्त कर लेता है, उसी प्रकार आत्मा जब अपने ज्ञाता दृष्टा स्वभाव को जानकर विकृतियो से अपने आप को पृथक् कर लेता है तब वह पुन अपने स्वभाव को प्राप्त हो जाता है।

प्रश्न—आत्म प्राप्ति का साधन क्या है ?

उत्तर–प्रभुवाणी सन्देश सारयुत शास्त्रो का स्वाध्याय करे।
'आत्मज्ञानयुत ज्ञानी या विद्वज्जन संगति नित्य करे ॥५०७॥

करे धर्म चर्चा प्रतिदिन अरु निज स्वभाव सम्यक् जाने।
आत्मानुभूति कर निज को पाले जन्म सफल निज का करले ॥५०८॥

जो आत्मा अनुभूति करें अरु चिन्तन उसका करते है।
श्रद्धा अडिग करें जो प्राणी निज आत्मा को पाते है ॥५०९॥

कर्म और नोकर्म भिन्न है मै तो ज्ञाता दृष्टा हूँ।
राग द्वेष ना शुद्ध आत्म मे अनुभव कर्त्ता मै ही हूँ ॥५१०॥

इस विधि बैठ ध्यान जो करते निज मे स्थित हो रहते।
हर प्रदेश में निज अनुभूति मोक्षार्थी प्रति क्षण करते ॥५११॥

१. सच्चे शास्त्रो का स्वाध्याय द्वारा, मुनिवाणी द्वारा अथवा आत्म ज्ञानी विद्वान द्वारा, आत्मा, आत्मा के गुण, आत्मा को स्वभाव को समझना आत्मा के गुणो को जानना, तथा गूढ ध्यान मे आत्मा कीअनुभूति करना, जिसका अनुभव हो रहा है वह मैं आत्मा ही हू। इस प्रकार निज मे निज की अडिग श्रद्धा उत्पन्न करना आत्म प्राप्ति का साधन है।

मैं स्वभाव से ज्ञाता दृष्टा हू, अनादि काल से आजतक ज्ञाता दृष्टा ही रहा हू, वर्तमान मे भी मैं ज्ञाता दृष्टा हू और भविष्य मे भी ज्ञाता

दृष्टा ही रहूंगा। ज्ञाता दृष्टा कभी कर्त्ता नही होता, जो कर्त्ता नही होता वह भोक्ता भी नही होता, अत जो कर्त्ता भोक्ता की कल्पना है वह मिथ्यात्व के कारण है।

मैं शरीर और शरीर की क्रिया से भिन्न हू। ज्ञाता दृष्टा न किसी से राग करता है और न द्वेप करता है। पर मे इष्ट अनिष्ट कल्पना करना भी मिथ्यात्व के कारण है। यह चिन्तन करने वाला और अनुभव करने वाला मैं आत्मा ही हू। इस प्रकार जो ध्यानकर आत्म स्थित हो जाते है वे मोक्षार्थी कहलाते है।

प्रश्न—हम हमारे ज्ञान व दर्शन गुणो की वृद्धि किस तरह कर सकते है?

उत्तर—पन्चेन्द्रिय अरु मन आश्रित तो, निज अनुभव नाकर सकते।
चिन्तन निज का गूढ करें जो, आत्म दृष्टि वे हो पाते ॥५१२॥

आत्मस्थित जो नर हो जाते इन्द्रिय पट सब बन्द करें।
अवधि मनः पर्यय वे पाते केवल ज्ञानी वही बनें ॥५१३॥

जब जीव को स्व और पर का ज्ञान हो जाता है, तब वह आत्मा और शरीर को स्पष्ट रूप से पृथक् अनुभव करता है। आत्मा के ज्ञाता दृष्टा रूप की उसको स्पष्ट अनुभुति होती है। यह आत्मानुभूति सम्यग्दर्शन है और इसका ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। आत्मानुभूति कर जो आत्मस्थित रहते है वे सम्यक्चारित्र का पालन करते है।

प्रश्न—केवल ज्ञान तो चारो घातिया कर्मो के क्षय होने से पैदा होता है, केवल आत्म स्थिति के अभ्यास से यह किस तरह सम्भव है?

उत्तर—आत्मानुभूति सम्यग्दर्शन है सम्यग्ज्ञान यही तो है।
आत्मस्थिति चारित्र है सम्यक् घाति ध्वंस विधि यह ही है।५१४।

जब तक देखने का कार्य मन और इन्द्रियो से होता रहता है तब तक ज्ञान व दर्शन गुणो की वृद्धि होना सम्भव नही है। पन्चेन्द्रिय के पट बन्द कर मन को केन्द्रित कर गूढ चिन्तन के द्वारा स्वानुभव कर आत्म दृष्टि से देखना व जानना ज्ञान दर्शन गुणो की वृद्धि करता है धीरे २ यह ज्ञान अवधिज्ञान, मन पर्ययज्ञान और अन्त मे केवल ज्ञान वन जाता है।

प्रश्न - आत्मानुभूति कर ज्ञान आवरण शीघ्र दूर करने का क्या उपाय है ?

उत्तर—अग्नि संग जल ऊष्ण बने, अरु अग्नि हटे वह शीतल हो।
अगर हवा भी चले वेग से जल शीतल जल्दी से हो ॥५१५॥
अज्ञानी आत्मा मोह करे, आवरण ज्ञान पर मोही के।
मोह हटे जब अज्ञानी का, ज्ञान आवरण शीघ्र हटे ॥५१६॥
ज्ञान आवरण सूक्ष्म हटे तो नाम क्षयोपशम उसका हो।
स्व अरु पर का निश्चय होवे, आत्मानुभूति भी उसके हो ॥५१७॥
आत्मानुभूति के होने पर आत्मस्थिति जब है बन जाती।
आवरण ज्ञान का हटे तभी यह निश्चित है कहते जिन जी ॥५१८॥
अन्तर्मूहूर्त तक जिस ज्ञानी की आत्मस्थिति हो जाती है।
पूर्ण आवरण हटे ज्ञान का ज्ञानस्थिति हो जाती है ॥५१९॥
आत्मस्थिति कर ज्ञाता दृष्टा निज स्वरूप अनुभव करता।
आत्मस्थित ही स्व स्वभाव मे रह विभाव दूर करता ॥५२०॥
मेरे संग मे जो विकार है विकृति परिणति उनकी है।
मै स्वभाव से ज्ञाता दृष्टा भेद ज्ञान से स्थिति हैं ॥५२१॥

जिस प्रकार अग्नि के कारण शीतल जल ऊष्ण हो जाता है, अग्नि के हटने पर वह जल पुन शीतल हो जाता है, और यदि वायु का वेग भी साथ मे हो तो वह जल अतिशीघ्र शीतल हो जाता है।

इसी प्रकार अज्ञानी आत्मा अनादि काल से मोह कर रहा है पर वस्तु मे आसक्ति रख रहा है, और मोह के कारण ज्ञान पर आवरण आता रहता है, यदि मोह हट जावे, अर्थात् स्व पर ज्ञान होकर आत्मा पर वस्तु मे ममत्व भाव न रक्खे तो ज्ञान पर जो आवरण है वह दूर हो जावें। पर वस्तु मे मोह करना अर्थात् स्व को भूलना, और स्व को भूलना ही अज्ञान है, और जब तक अज्ञान है तब तक पर मे निज बुद्धि होती रहती है। लेकिन जब कर्म स्थिति मोह स्थिति जब अन्त कोडाकोडी सागर रह जाती है, उस समय ज्ञान पर आवरण हल्का हो जाता है इसको ज्ञानावरणी कर्म का क्षयोपशम कहते है। तब इस जीव को स्व पर का ज्ञान होकर परासक्ति कम होने से ज्ञान आवरण हटाने का अवसर प्राप्त होता है। इसी समय स्वानुभूति होती है और आत्म स्थिति भी हो

सकती है। आत्मस्थिति का अभ्यास जितना बढता जाता है उतना ही ज्ञान आवरण कम होता जाता है।

मैं एक शुद्ध आत्मा हू स्वभाव से ज्ञाता दृष्टा हूं, मेरे साथ मे जो विकार है, उन्ही विकारो का परिणमन विकृतिया है इस प्रकार आत्मा और विकारो (अष्ट कर्मों का) का जिसको भेद ज्ञान हो जाता है वह अपने आपको विकारो से पृथक् कर लेता है और यह भेद ज्ञान आत्मस्थिति होने मे सबसे बडा सहायक है।

प्रश्न—आत्मा जब स्वभाव से अनन्त ज्ञान मय है, तथा इसका दर्शन गुण और शक्ति भी अनन्त है फिर क्या कारण है कि इसका इतना विशाल गुण भी रागादिक विकृत्तियो के कारण छिपा हुआ है ?

अनन्त ज्ञान स्वभावी आत्मा अज्ञानी यह किस विध है।
सर्वाधिक आश्चर्य यह पुद्गल से आवृत चेतन है ॥५२२॥
क्या ताप और विकृति संग से स्वर्णत्व स्वर्ण तज देता है।
कोकिल किशोर निज मधुर कंठ कव्वे के संग क्या खोता है ॥५२३॥
माना, अनादि से यह चेतन विकृतियों के संग मे रहता है।
माना, चेतन, पर दृष्टि किये पर मे आसक्ति रखता है ॥५२४॥
पर दृष्टि किये निज गुण ही छिपें ऐसी विडम्बना किस विध है।
शक्ति अनन्त भी छिप जावे ऐसी विमूढ़ता किस विध है ॥५२५॥

उत्तर—

श्री वर्धमान तीर्थङ्कर ने इस गूढ़ तत्त्व को जाना है।
निज मे रह ध्यान करे निज का, उसने निज को पहचाना है ॥५२६॥
ना द्रव्य भाव निज त्याग करे ना वस्तु स्वरूप बदलता है।
जो चिन्ता तज पुरुषार्थ करे वह निज अनन्त गुण पाता है ॥५२७॥
तुम बाह्य दृष्टि का त्याग करो यह ज्ञान सूक्ष्म भी परवश है।
अन्तर मे रह अन्तर दृष्टि उपयोग करे वह सुखमय है ॥५२८॥
गान्धारी निज नेत्रो पर बन्धन बांधे ही रहती थी।
थे नेत्र स्वस्थ दोनो फिर भी अन्धीवत् समय बिताती थी ॥५२९॥
इसी तरह महा शक्ति पुन्ज निज आत्म दृष्टि को बन्द किये।
जग मे विचरण करता रहता बिन नींद तजे बिन निज पाये ॥५३०॥

इक बार बन्द कर बाह्य दृष्टि निज अन्तर से निज को देखो।
यदि भिन्न दृष्टि हो विकृति से आवरण हटाना तुम सीखो ॥५३१॥

वीर प्रभु की दिव्य ध्वनि को समझ कर गोतम गणधर ने यह बतलाया कि अनादि काल से आत्मा के सग मे जो विकार है, उनमे अज्ञान के कारण विकारो के साथ एकत्व बुद्धि बनी हुई है, आत्मा विकारो का कर्त्ता बना हुआ है, और विकारो मे जो कर्त्तृत्व बुद्धि है, उसके कारण कर्म विकारो के साथ आत्मा का बन्धन हो रहा है। जब आत्मा अपने ज्ञाता दृष्टा स्वभाव को जान लेता है तब वह अपने अनादि कालीन अज्ञान को भी जान लेता है, वह समझता है कि विकारी परिणमन मेरे साथ जो अनादि कालीन विकार है उनका है, मै इन विकारो का कभी भी कर्त्ता नही था, न वर्तमान मे इनका कर्त्ता हूँ, और भविष्य मे कभी भी इनका कर्त्ता नही बन सकता हूँ। अत मै आत्मा इन विकारो से पृथक् हूँ।

इस ज्ञान के बिना यह अनन्त ज्ञान स्वभावी आत्मा भी कर्मो का कर्त्ता बन कर कर्म बन्ध मे पडा हुआ है, यही कर्म आवरण और ज्ञान आवरण है।

प्रश्न—आत्मानुभूति के पश्चात् गुणस्थानो मे आगे कैसे बढते है ?

उत्तर—आत्मानुभूति प्रत्यक्ष ज्ञान है वीर प्रभु ने बतलाया।
दिव्यध्वनि प्रभु की सुन कर गौतम गणधर ने समझाया ॥५३२॥

आत्मानुभूति वे ही करते जो तत्व ज्ञान श्रद्धा करते।
पंच, प्रतिष्ठा पच व्रतो की कर उसकी वृद्धि करते ॥५३३॥

पंच अणुव्रत और महाव्रत जो प्राणी पालन करते।
निज उपकार करे अतिभारी पर उपकारी भी होते ॥५३४॥

हिंसात्याग प्रतिष्ठा निज मे, बैर त्याग कर देता है।
बैर किसी से न होने से देव तुल्य गुण पाता है ॥५३५॥

सत्य प्रतिष्ठा यदि निज मे हो वचन सिद्धि हो जाती है।
धर्म मूर्ति साक्षात वह है सम्यक् दृष्टि उसकी है ॥५३६॥

अचौर्य प्रतिष्ठा यदि निज मे हो पर से दृष्टि स्वतः हटती।
पर द्रव्य पर भावो मे भी निज की दृष्टि ना रहती ॥५३७॥

ब्रह्म आचरण ब्रह्म प्रतिष्ठा मनैकाग्रता को लाती।
ध्यान काल मे स्थिरता से आत्मस्थिति है बढ़ जाती ॥५३८॥
अपरिग्रह की पूर्ण प्रतिष्ठा से मोह क्षय हो जाता।
मोह क्षय है वह मार्ग जो ज्ञान आवरण को हरता ॥५३९॥
पंच प्रतिष्ठा होने पर जो आत्म चिन्तवन हे करते।
आत्मानुभूति अभ्यास वृद्धि कर प्रत्यक्ष ज्ञान वे ही पाते ॥५४०॥
ऐसे सम्यक् दृष्टि साधु केवल ज्ञानी है बन जाते।
'प्रभु' कहे यह है मोक्ष मार्ग जिससे अक्षय सुख को पाते ॥५४१॥
पंच प्रतिष्ठा होने पर संयम का पालन होता है।
संयम बिन सम्यग्दृष्टा भी ना सिद्ध कभी बन सकता है ॥५४२॥

आत्मानुभूति चतुर्थ गुणस्थान मे हो जाती है, पचम गुणस्थान मे पच अणुव्रतो के पालन किये बिना जाना सम्भव नही है क्योकि जब तक सयम का पालन न हो तव नक आत्मा के भावो मे निर्मलता या स्वच्छता नही आती अत पच अणुव्रतो के ालन करने पर ही जीव पचम गुणस्थान वर्ती होता है।

षष्ट गुणस्थान या इसके आग मुनि पद आ जाता है। जो मुनि अपने मुनि धर्म का पालन करते है वे अ-ने आप मे पच व्रतो की प्रतिष्ठा कर लेते है। जिस प्रकार पत्थर की मूर्ति मे भगवान की प्रतिष्ठा करने से भगवान वन जाते है, हम उनको भगवान मानते है, उनके दर्शन व पूजन कर साक्षात् भगवान का दर्शन व पूजन मानते है उसी प्रकार मुनि अपने आप मे अहिसा की प्रतिष्ठा कर अहिसा की मूर्ति वन जाता है, उसका ससार मे किसी भी जीव या अजीव से वैर नही रहता, वह सत्य की प्रतिष्ठा कर साक्षात् सत्य की मूर्ति बन जाता है, उसके वचन कभी असत्य नही होत, वह अचौर्य की प्रतिष्ठा कर स्व को स्व और पर को पर मानता है, पर के एक कण मे भी निज बुद्धि नही होती वह अपने आप मे ब्रह्म की प्रतिष्ठा कर ब्रह्ममय वन जाता है, स्त्री की तो बात ही क्या है वह पर के एक कण मे भी आसक्ति नही रखता। वह अपने आप मे लीन होकर आत्मस्थित हो जाता है। अपरिग्रह की स्वयं मे प्रतिष्ठा कर लेने पर ससार के एक कण मे भी मोह न रहने से मोह का क्षय कर केवल ज्ञान प्राप्त कर लेता है।

प्रश्न –क्या अग्नितप अग्निदाह हिम गलन आदि करता है वह तपस्वी नही है।

उत्तर–**कर्म उदय से यदि जलजावे हिम मे कोई गल जावे।**
गलना जलना नश्वर तन का यह मान दुख सहन करे ।।५४२।।

धीर वही हैं वीर वही हैं नाम तपस्वी वह पावे।
धर्म समझकर जलना गलना बन्ध नरक के करवावे ।।५४३।।

ज्ञानी के साथ घटने वाली घटना कर्मबन्ध का कारण न बनकर निर्जरा का कारण बनती है। ज्ञानी आत्मा को नित्य एव शरीर को नाशमान मानता है, शरीर मे उसकी आसक्ति नही होती, शरीर का गलना अथवा छेदन भेदन वह निज का नही मानता, दुख सुख को वह कल्पना मात्र मानता है। ऐसी स्थिति मे यदि कर्मोदय से आग मे जलने समुद्र मे डूबने बर्फ मे गलनेकी आदि घटना घट जावे तो वह इस शरीर को नश्वर मानकर दुखो को सहन करता है, अत उसको धीर वीर तपस्वी के नाम से पुकारते हैं। लेकिन जिनको आत्म ज्ञान नही है, अर्थात जो शरीर को ही सब कुछ मानते है, शरीर और आत्मा को पृथक् नही मानते शरीर के दुख को अपना दुख और शरीर के सुख को अपना सुख मानते है ऐसे आदमी आग मे जलना या बर्फ मे गलने को धर्म मानते है तो उनके नरक आयु का बन्ध होता है।

प्रश्न तप करने सेकर्मो की निर्जरा होती है। यह तप क्या होता है ?

उत्तर–**ज्ञाता दृष्टा बनकर भोगे, इच्छा न करे वह तपता है।**
भोग अचेतन चेतन का करता भी निस्पृह रहता है ।।५४।।

इच्छा रखना परिग्रह की जड है, खाना पीना मकान जायदाद स्त्री पुत्र कुटुम्ब पद कपडा जेयर धन दौलत इत्यादि वस्तुओ मे से किसी एक की भी इच्छा रखता परिग्रह है, चाहे वह वस्तु मिले या न मिले, उसकी इच्छा ही परिग्रह है, परिग्रह अर्थात् बन्धन, क्योकि उस वस्तु मे इच्छा रखता हैं अर्थात् उस वस्तु से बन्धन हो रहा है।

अत जो अपनी इच्छा का निरोध करता है वह परिग्रह से बचता है अर्थात् बन्धन से बचता है अत इच्छा के रोकने को तप कहते है। यह व्यवहार तप है। निश्चय तप मे मनुष्य किसी वस्तु की इच्छा न करता हुआ ज्ञाता दृष्टा बनकर रहता है, भले ही वह उन वस्तुओ का निस्पृह

भाव से भोग करे, भोग करते हुए, भी वह परिग्रह का दोषी नही वनता।

ज्ञाता दृष्टा रहने वाले ज्ञानी की उन वस्तुओ मे आसक्ति नही रहती तथा वह समझता है कि जिन पौद्गलिक या चेतन पदार्थों का उसके साथ सयोग होना है वह होगा और जिनका सयोग नही होना है उनका नही होगा, वह किसी वस्तु की इच्छा नही रखता तथा सयोग या वियोग के समय आसक्त भाव न रखकर ज्ञाता दृष्टा वन कर रहता है। यह तप है और इस त ा से कर्मों की निर्जरा होती है।

प्रश्न—यह जीव, मनुष्य से देव तिर्यन्च या नारकी वन जाता है, नारकी, मनुष्य वा तिर्यन्च वन जाता है, तिर्यन्च, नारकी देव वा मनुष्य वन जाता है, देव, तिर्यन्च वा मनुष्य वन जाता है, इस प्रकार गतियो मे कौन से कर्मों के कारण जाता हे ? स्पष्ट करे।

उत्तर—बहुरूप मनुज के इस जग मे प्रत्यक्ष दिखाई देते है।
संस्कार बनें जिसके जैसे वैसे संस्कारित होते है ॥५४५॥

व्यापार करे मानव कोई धनपति बन धनिक कहाता है।
शूरवीर बनता कोई सेनापति बन रक्षा करता है ॥५४६॥

खेती करते कोई मानव खेतों मे अन्न उगाते है।
कुछ ज्ञानवान करते जग में अज्ञान जगत का हरते है ॥५४७॥

वैद्य बनें कोई मानव रोगी का रोग हटाते है।
कुछ चित्रकार कुछ स्वर्णकार कुछ लोहकार बन जाते है ॥५४८॥
कुछ मूर्तिकार कुछ वैज्ञानिक बनकर नवीनता लाते है।
कुछ राजा वनकर राज करे कुछ सेवाकर जन्म बिताते हे ॥५४९॥
जिस विधि साँचे मे ढल जावे वैसे ही दे हो जाते है।
साचे मे कर्मोदय से ढलते, ढलकर निज रूप दिखाते है ॥५५०॥
इस विधि से ही यह जीव जन्म मे जैसे भाव बनाते है।
वैसी ही लेश्या बने और गतियो के बन्ध बनाते है ॥५५१॥
क्रोधादि कषायें और असंयम लघु भारी तरतम होते है।
इन ही भेदो के कारण से नर नारक पशु बन जाते है ॥५५२॥

देवगति—

इक मन्दकषायी होता है संयम गुण निज में लाता है।
वह देव तुल्य जीवन व्यतीत कर देव गति पा जाता है ॥५५३॥

इक तीव्र कषायी होता है जग को वह दुखी बनाता है।
जग से लडता जीवन खोता वह नर्क गति में जाता है ॥५५४॥

नर्कगति

पर के दुःख को ना दुख समझे वह स्वार्थ साधना करता है।
आरम्भ परिग्रह बहुत करे वह नर्क गति मे जाता है ॥५५५॥

तिर्यन्च गति

मायाचारी जो बहुत करे दुनिया को धोखा देता है।
मन वचन कार्य मे पृथक् पृथक् तिर्यन्च गति मे जाता है ॥५५६॥

तिर्यन्च सभी टेढे मेढे निज वक्र भाव वश पाते हैं।
दुनिया को वे ठगना चाहे पर खुद को ही ठग लेते है ॥५५७॥

मनुष्य गति

आरम्भ परिग्रह अल्प करे जीवन अति सरल बिताता है।
उपकार करे सब जीवो का वह दान चतुर्विध देता है ॥५५८॥

ऐसे जीवो मे मानवता उनके निज कार्य दिखाते है।
वह गति मनुष्य की प्राप्त करे अरु सुखमय जीवन जीते हैं ॥५५९॥

सिद्धगति

निज चर्या जो प्रतिक्षरण विवेकमय रखकर कदम बढ़ाते है।
स्व पर का भेद जान ज्ञानी निज गुण स्वभाव मे रमते है ॥५६०॥

वे स्वानुभूति करके निज की तत्वो के ज्ञानी बनते हैं।
दर्शन अरु ज्ञान चरित्र तीन का संगम निज मे करते है ॥५६१॥

ऐसे ज्ञानी निज को पाते वे मोक्ष मार्ग पर चलते हैं।
निर्वाण प्राप्त वे ही करते अक्षय सुख को पा लेते है ॥५६२॥

इस विधि से निज के भाव और निज कार्य चतुर्गति पाते हैं।
प्रतिक्षरण चौकस रक्खे निजकी वह सुखमय गतिको पातेहै ॥५६३॥

अर्थात् जो जीव जैसे भावो मे जीता है वैसी ही गति वह प्राप्त करता है, अत निज के लिये परिणामो की हमेशा चौकस रक्खो, स्वय भी प्रसन्न रहो, जीवन-यापन के लिये जितने आरम्भ परिग्रह की आवश्यकता हो उतना ही करो, अधिक नही। स्वय सुखी रहो और ससार को सुखमय बनाने के भाव रक्खो। स्वय स्वस्थ रहो और ससार को स्वस्थ रखने की

भावना रक्खो। स्यय ज्ञानवान बनो और ससार का अज्ञान हटाने को भावना रक्खो। आपके भाव ही आपका साचा बनकर आपको गतियो मे ढालते है। जैन आगम गति प्राप्त करने मे लेश्या को प्रधान मानता है। लेश्या भावो से ही बनती है। अत भावो के अनुसार गति प्राप्त होती है। जब यह जीव स्व और पर का ज्ञानी बन कर स्व को स्व और पर को पर समझ कर स्वानुभूति कर लेता है तथा स्व मे स्थित होकर सम्पूर्ण कर्मो को काटकर सिद्ध गति प्राप्त कर लेता है, तब भगवान बन जाता है।

प्रश्न—बहुत आरम्भ परिग्रह करने वाला नरक गति मे जाता है, इसके अलावा इसका और भी कोई रहस्य है?

उत्तर—रहस्य सभी जिन आगम मे आचार्यों ने बतलाये हैं।
क्यों नारक सभी नारती हैं भेद यह समझाये हैं ॥५६४॥
मनुज देव तिर्यन्च नारकी कर्मोदय वश फल पावें।
ना अधिक मिले ना कम मिलता जब कर्म उदय में आजावें ॥५६५॥
यद्यपि उत्कर्षण अपकर्षण बन्धित कर्मो का होता है।
लेकिन जब उदित वह होते फल भोग जरूरी होता है ॥५६६॥
फल भोग समय सतुष्ट रहे कर्मोदय उसे समझते हैं।
पुरुषार्थ करें आवश्यक ही ना आर्तध्यान जो करते हैं ॥५६७॥
ऐसे प्राणी मानव बनते पुण्योदय के फल पाते हैं।
तिर्यन्च नारकी नही बने वे अशुभ बन्ध ना करते हैं ॥५६८॥
लेकिन प्राणी जो कर्मोदय, फल पाकर तुष्ट न होते हैं।
अति संग्रह की बुद्धि रखते आरम्भ बहुत ही करते हैं ॥५६९॥
जग दुखी रहे भूखो भी मरे परवाह नही वे करते हैं।
जेबें भरते दोनो कर से फिर भी सन्तुष्ट न रहते हैं ॥५७०॥
राजा भी यदि वे बन जावें भोगो के ठाठ रहे उनके।
फिर भी सन्तोष नहीं उनको पर से ईर्ष्या ही रखते हैं ॥५७१॥
ऐसे प्राणी नारती बनें अरु नरक गति के बन्ध करें।
नरकों में वर्ष असंख्य रहें अरु दुख अपरिमित वे पावें ॥५७२॥

जो हमेशा असन्तुष्ट रहकर पर से ईर्ष्या करते है पर धन व पर स्त्री मे मन रखते है। आरम्भ परीग्रह बहुत अधिक कर आवश्यकता से अधिक

होने पर भी सतुष्ट नही होते, केवल सग्रह बुद्धि बनाये रखते है वे नर्क प्राप्त करते है, जहा असख्य वर्षो तक पूर्ण दुख के साथ बिताते है।

प्रश्न—शरीर की सुन्दरता व कुरूपता ऊँच, नीच, कुल, राजा, रक, सुख, मे तरनमना का क्या कारण है ?

उत्तर—कारण है निज के भाव विविध जो कर्म रूप पा लेते है।
जो भाव शुभाशुभ बनते है वे सुखमय दुखमय बनते है ॥५७३॥

ज्ञानी बनने का उपाय—

अज्ञान जगत का दूर करूँ जो इस विधि भाव बनाते है।
करते वे ज्ञान प्रचार बहुत तन मन धन से जुट जाते हैं ॥५७४॥

अज्ञान पटल हटता उनका विद्वज्जन जग मे बनते हैं।
है इच्छा ज्ञान बढाने की वे निज अज्ञान हटाते हैं ॥५७५॥

सुखी बनने का उपाय—

जो भोजन वस्त्रादिक देकर दुखिया के दुख हटाते हैं।
सुख वर्धन की उनकी इच्छा वे सुखी कर्म से बधते हैं ॥५७६॥

दुखी बनने का कारण—

जो जग को दुख देना चाहे जो लूट खसोट मचाते हैं।
दुख देने की उनकी इच्छा दुखमय बन्धन कर लेते हैं ॥५७७॥

कुरूप स्वरूप बनने का उपाय—

हंसने वालो की मुखाकृति प्रिय सबको जग मे लगती है।
रोने वालो का मुखड़ा तो विकृत ही जग मे होता है ॥५७८॥

सुन्दर बनने का उपाय—

निज कार्यो से निज भावो से जो सबको हर्षित रखते हैं।
उनके शरीर सुन्दर बनते प्रिय मुखाकृति वे पाते ह ॥५७९॥

कुरूप बनने का कारण—

निज भावो अरु निज कार्यो से जो जग को खूब रुलाते हैं।
वे दुख कर्मो के बन्ध करें बेडौल रुग्ण वे होते हैं ॥५८०॥

राजा बनने का उपाय—

धन अधिक रहे कम भी रहता पर मन के राजा होते हैं।
निज धन को पर हित खर्च करे वे धनी जगत मे बनते हैं ॥५८१॥

मन के राजा के न्याय भाव जीवो के सुख हित होते हैं।
रक्षा चाहें दुष्टो से तो वे राजा जग मे बनते है ।।५८२।।
संसार विविधतापूर्ण बहुत वर्णन ना सब का हो सकता।
जो भाव बनावें जिस विध के वह उसको है निश्चित पाता ।।५८३।।

वस्तु स्थिति ऐसी है कि भावो के पैदा होते ही तत्क्षण आभामण्डल मे भावो के अनुसार रग परिवर्तन होता है तथा वहां उपस्थित कर्मवर्गणा उस रग से रजित होकर आत्म प्रदेशो को आवृत कर देती है, प्रतिक्षण भाव बनते है और प्रतिक्षण कर्मवर्गणा कर्मरूप परिणमित होकर आत्म प्रदेशो को आवृत करती रहती है।

मान लीजिये आपने हर्ष किया या दूसरो को हर्षित करने के भाव बनाये, उस समय कर्मवर्गणा हर्ष रूप परिणमित हुई, वह कर्म जब कभी उदय मे आयेगा तब आपको हर्ष ही प्रदान करेगा सुख ही उत्पन्न करेगा। इसी प्रकार आप दुख कर रहे है, रो रहे है, दूसरे को दुखी करने के भाव बना रहे हैं, उस समय दुखमय कर्म वर्गणाओं का आभामण्डल हो गया और दुख रूप रजित होकर उस कर्म वर्गणा ने आत्मा को आवृत किया, यह कर्म जब कभी उदित होगा उस समय आपको दुख ही प्रदान करेगा दुखी ही बनायेगा। इसी प्रकार किसी भी तरह से पर को या स्व को दुखी करने के भाव सुख कारक कर्मो का बन्ध करते हैं और सुखी करने के भाव सुख कारक कर्मो का बन्ध करते हैं। शृंगार करने के भाव सुन्दरता और दुख करने के भाव कुरूपता के कर्मो का बन्ध करते हैं। इसी प्रकार भावो की तरतमता स्व सदृश ऊच नीच कुल राजा रक आदि कर्मो का बन्ध करती है।

अत प्रतिक्षण अपने भावो की चौकस रखने वाला, कभी भी पर को या स्व को दुखी करने के भाव नही लाता, सदा जगत् उपकार व स्व उपकार के भाव, रखता है, स्वय भी प्रसन्न रहता है और अन्य सभी प्राणियो को प्रसन्न रखने के भाव रखता है, निज अज्ञान को व अन्य सभी के अज्ञान को दूर करने के भाव रखता है।

प्रश्न—दूसरे जीवो के उपकार या सुख के भाव शुभ का बन्ध तथा दूसरो को दुखी बनाने के भाव या नुकसान पहुँचाने के भावो से अशुभ बन्ध होता है, इनका क्या कारण है?

उत्तर—आत्म शक्ति अति ही अद्भुत, भावों से सृष्टि हो जाती है।
भावों से लेश्या बनती है लेश्या होती रंगवाली है ॥५८४॥

यद्यपि आगम मे छह लेश्या छह रंगवाली कहलाती हैं।
पर छह रंग मिश्रण मे लेश्या होती असंख्य रंगवाली है ॥५८५॥

असंख्य भाव लेश्या असंख्य गति भी असंख्य ही होती है।
जैसी लेश्या कार्माण वर्गणा वैसी ही बन जाती है ॥५८६॥

रंग विविध लिये कार्माण वर्गणा तीन लोक मे रहती है।
आत्मा के जैसे भाव बनें उस विध फल वह दिखलाती है ॥५८७॥

हम सुख चाहें कार्माण वर्गणा सुखरूपी बन जाती है।
दुख देने की इच्छा से तो दुख रूप स्वयं हो जाती है ॥५८८॥

भावों के उत्पन्न होते ही आभा मण्डल वैसा ही बन जाता है, कर्मवर्गणा वैसा ही रूप धारण कर कर्म रूप परिणमित हो जाती है।

प्रश्न निज का उपकार क्या है ?

उत्तर—कपडा मैला चिकना बनता वह नही किसी को प्रिय लगता।
बिन मैल यदि वह स्वच्छ रहे वह सबके मन मे है भाता ॥५८९॥

आत्मा मे राग द्वेष उपजे यह स्वाभाविक तो कार्य नही।
अस्वाभाविकता है वस्त्र मैलवत् आत्मा के संग मे है स्याही ॥५९०॥

यह कपड़ा स्वच्छ रहे प्रतिदिन उपकार वस्त्र का कहा यही।
बिन राग द्वेष यदि आत्म रहे उपकार आत्म का है यह ही ॥५९१॥

आत्मा सोलह कषाय नव नो कषाय से रहित होकर संकल्प विकल्प रहित बन कर ज्ञाता दृष्टा बन कर रहे यह आत्मा का सबसे बडा उपकार है। क्योंकि आत्मा स्वभाव से ज्ञाता दृष्टा है अत निज स्वभाव की प्राप्ति ही सबसे बडा उपकार हो सकता है।

प्रश्न— यह जीव क्या वास्तव मे कर्म करता है ?

शुद्ध और निश्चय नय से यह आत्मा ज्ञाता दृष्टा है।
ज्ञाता दृष्टा जाने देखे, पर क्रिया वह ना करता है ॥५९२॥

है अनादि से जीव यह तो केवल ज्ञाता अरु दृष्टा।
है वर्तमान मे रूप वही भावो स्थिति भी है ऐसी ॥५९३॥

लेकिन अनादि से अज्ञानी अरु निज स्वरूप से विस्मृत है।
पर को निज मान ममत्व करे पर के रंग से यह रंजित है ॥५९४॥

है आत्म शक्ति अति ही अद्भुत निज इच्छा से फल प्राप्त करे ।
अज्ञानी बन परासक्त होकर दुख सुख के नाटक खूब करे ।।५६५।।

जैसे नाटक मे मनुज कोई राजा बन निज को सुखी गिने ।
कोई उसका सेवक बन कर ललकार सुने अरु दुख माने ।।५६६।।

न सेवक वहां पर सेवक है ना राजा भी राजा ही है ।
फिर भी सुख दुख मे रगे रहे यह केवल एक कल्पना है ।।५६७।।

इस विधि ही यह संसार मंच जीवो की नाटक शाला है ।
मनुज देव तिर्यन्च नारकी नाटक यह निराला है ।।५६८।।

नाटक छोड़ो निजरूप लखो यह कर्म विविधता नाटक है ।
तुम तो केवल ज्ञाता दृष्टा यह कर्म क्रिया सब कल्पित है ।।५६९।।

यदि कोई सत्य को स्वीकार करे, तत्त्वो का अर्थ भली भाति जाने, सर्वज्ञ की वाणी मे विश्वास करे तो आत्मा ने न कभी कर्म किये न कर रहा है और न करेगा इस त्रिकाली सत्य से इन्कार नही कर सकता । जो व्यवहार मे अज्ञानवश आत्मा अपने आपको पर के कार्यो का कर्त्ता भोक्ता मानता है वह ज्ञान न होने के कारण से ही है, जब स्व और पर का यथार्थ ज्ञान हो जाता है, आत्मा आत्मस्थित होकर निज को देखता है तब उसे यह व्यवहार केवल नाटक ही मालूम पडता है, अत. शुद्ध नय से आत्मा कर्मो का कर्त्ता भोक्ता नही है ।

प्रश्न—उपादान मे शक्ति हो तो उसको निमित्त अवश्य मिल जाता है क्या ?

उत्तर—तीन लोक मे जीव और पुद्गल अनन्त हैं भरे हुए ।
है क्रिया शक्ति उनकी अनन्त निमित्त धर्म अधर्म हुए ।।६००।।

द्रव्य क्षेत्र अरु काल भाव वश क्रिया द्रव्य मे होती है ।
उपादान की शक्ति यथा वैसी ही क्रिया प्रकटती है ।।६०१।।

यद्यपि जब क्रिया प्रकटती है उसको निमित्त मिल जाता है ।
लेकिन निमित्त कर्त्ता ना है कर्त्ता उपादान की शक्ति है ।।६०२।।

वनवास राम को जाना था कैकेयी निमित्त बन प्रकट हुई ।
राजा दशरथ को मरना था निमित्त राम वनवास हुआ ।।६०३।।

किसी भी कार्य के होने मे उपादान शक्ति ही मुख्य कारण है । यह अवश्य है कि उपादान मे कार्य की शक्ति हो तो निमित्त कारण वैसा ही

मिल जाता है। किसी की मन्त्री बनने की योग्यता होती है तो वह चुनाव भी जीत लेता है, लेकिन वह मन्त्री चुनाव के कारण नही बल्कि अपने भाग्य के कारण बनता है। राम को राज्य सिंहासन पर नही बैठना था बल्कि चौदह वर्ष वन मे रहना था, अत मन्थरा और कैकेयी निमित्त बन कर प्रकट हुई। राजा दशरथ के और रावण के मरने मे राम का वनवास निमित्त बना। छोटी से छोटी घटना से लेकर बडी से बडी घटना द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के अनुसार अर्थात् अपनी भवितव्य योग्यता के अनुसार होती है और उसको निमित्त कारण मिल जाते है।

प्रश्न—क्या हम सुख दुख के भी कर्त्ता नही है ?

उत्तर—सुख दुख जीवन अरु मृत्यु सभी कर्मोदय कारण होते है।
निज सुख दुख या पर सुख दुख के केवल हम तो ज्ञाता ही है ॥६०४॥

आपकी आत्मा स्वभाव से केवल ज्ञाता दृष्टा है अत किसी भी कर्म को करने मे समर्थ नही है। साता वेदनीय कर्म के उदय से सुख और असाता वेदनीय कर्म के उदय से दुख के कारण उपस्थित होते है। आयु कर्म के उदय से जीवन, आयु क्षय से मृत्यु होती है।

प्रश्न—क्या भावो के भी हम ज्ञाता ही बन कर रहे, और इससे क्या लाभ है ?

उत्तर—जो प्राणी शुद्ध भाव रखते वे कर्म निर्जरा करते है।
ज्ञाता दृष्टा बन कर रहना ही शुद्ध भाव कहलाते है ॥६०५॥

ज्ञाता ही रहे क्योकि आत्मा का स्वभाव ज्ञाता दृष्टा ही है। क्रोधादिक भाव आत्मा मे चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से पैदा होते है, अत जो अपने क्रोधादिक विभावो के भी ज्ञाता बन कर रहते है उनके कर्म बन्ध नही होता।

प्रश्न—एक आदमी एक जीव को मार देता है, जिस प्रकार चक्रवर्ती युद्ध मे अनेक जीवो की हिंसा करते है, अनेक तरह के भोग भोगते है, फिर भी उनका कर्मपटल इतना हल्का रहता है कि वे मोक्ष तक चले जाते है, और एक आदमी अल्प से अल्प आरम्भ परिग्रह करके भी बन्धन से मुक्त नही होता इसका क्या कारण है ?

उत्तर—अज्ञान ज्ञान का भेद यहां ज्ञानी बन्धन से बचते हैं।
निज स्वभाव निज गुण ज्ञाता संकल्प विकल्प न करते है ॥६०६॥

निज भावो के भी वे ज्ञाता कर्मोदय से उन्हें मानते हैं।
भावानुसार जो कार्य बने कर्त्ता उसके ना बनते हैं ॥६०७॥

निज के पर के जो सुख दुख हैं वे भी कर्मोदय कारण हैं।
द्रव्य क्षेत्र अरु काल भाववश बनें, विकल्प अकारण है ॥६०८॥

षट् खण्डों के स्वामी जो सुख के ढेरो मे जीते है।
वे युद्ध करें क्षति बहुत करें कर्त्ता निज को ना गिनते हैं ॥६०९॥

कर्त्तृत्व भाव ही मिथ्या है निज गुण स्वभाव विपरीत यह।
निज को निमित्त माने केवल जिससे बन्धन से बचें वह ॥६१०॥

आरम्भ अल्प करें प्राणी, यदि तत्त्व ज्ञान से वंचित है।
कर्मो के बन्ध अवश्य करें अज्ञानोपन्न से बन्धित है ॥६११॥

ज्ञान अमृत है, अज्ञान विष है। संसार मे रहकर सभी तरह के भोग भोगते हुए भी जो मानव ज्ञान भाव को नही छोडते अपने भावो को शुद्ध रखते है, वे कर्म बन्धन से बच जाते है, उदित कर्म अपना फल देकर निर्जरा को प्राप्त हो जाते है।

अज्ञानी प्राणी कर्मफलो मे कर्त्तृत्व बुद्धि व ममत्व बुद्धि रखते है, अत रागयुक्त मोहयुक्त बुद्धि होने के कारण उनकी कर्म सन्तति भग नही होती और वे पुन बन्धन मे बध जाते है।

अत जो प्राणी निज भावो व कार्यो मे ममत्व बुद्धि नही रखते वे ज्ञानी होने के कारण भोग भोग कर भी निर्लिप्त रहते है, उनका कर्म लेप बहुत ही हल्का रहता है अत मोह का क्षय शीघ्र हो जाता है और मुक्ति का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

प्रश्न— आत्मस्थिति कैसे करे ?

उत्तर—आत्म प्राप्ति की लग्न तुम्हारे हृदय कमल में पैदा हो।
लग्न स्वयं मन स्थित करदे, आत्म प्राप्ति इस विधि से हो ॥६१२॥

सतत साधना सम्भव करदे, कार्य असम्भव भी यदि हो।
लक्ष्य आत्म प्राप्ति का जब हो, आत्मस्थिति निश्चित ही हो।६१३।

आत्म प्राप्ति की गूढ चिन्तना, जब प्रतिदिन तुम बैठ करो।
ज्ञाता दृष्टा रूप प्रकट हो, आत्म दृष्टि भी निश्चय हो ॥६१४॥

चिन्तन का अभ्यास बढावो, मै आत्मा हूँ दृष्टि करो।
यह अभ्यास ही आत्मानुभूति अरु आत्मस्थिति का कारक हो।६१५।

आत्मस्थिति, आत्मा का स्वरूप समझ कर उसमे स्थिति करना है। आत्मस्थिति आत्मानुभूति होने के पश्चात् ही सम्भव है। जो आत्मा का स्वभाव और गुण जानकर निज को ज्ञाता दृष्टा स्वभाव मे स्थित करता है, निश्चिल ध्यान लगाता है, प्रतिक्षण आत्म चिन्तन मे रत रह कर गूढ ध्यान मे लीन होता है, वही जीव आत्मानुभूति और आत्मस्थिति कर पाता है।

प्रश्न—आत्मस्थिति से क्या लाभ है ?

उत्तर—घर का मालिक घर मे रहता, वह घर के लाभ उठाता है।
घर का धन दौलत कितना है, इसको वह समझता है ॥६१६॥
मदिरा पीकर घर के बाहर जो मानव फिरता रहता है।
घर के लाभ उसे ना मिलते दर दर ठोकर खाता है ॥६१७॥
घर के अरब खरब धन का भी वह न रहता ज्ञाता है।
इसीलिए वह निर्धन बनकर जग से भीख मागता है ॥६१८॥
इसी तरह से आत्मा भी जब निज स्वरूप मे बसता है।
गुण अनन्त का स्वामी है वह ऐसा ज्ञान उपजता है ॥६१९॥
धीरे धीरे दृष्टि त्याग पर, निज मे दृष्टि लगाता है।
पर से दृष्टि हटाने से वह मोह क्षय कर देता है ॥६२०॥
मोह क्षय हो जाने पर वह निज स्वभाव मे आता है।
निज स्वभाव मे आने पर केवल ज्ञानी बन जाता है ॥६२१॥

आत्मस्थिति वह कला है, जिससे आत्मा आत्म घर मे बस कर अनादिकालीन विकृतियो से निज को पृथक् कर अपने आप शुद्ध बना लेता है। शुद्ध बन जाने पर उसके अनन्त चतुष्टय गुण प्रकट हो जाते है, वह केवल ज्ञानी बनकर अघातिया कर्मो के क्षय हो जाने पर मोक्ष चला जाता है।

प्रश्न—कर्म पुद्गल है, आबाधा काल के पूर्ण होने पर उदय मे आते है और अपना फल देते है, पुद्गल मे यह स्वय परिणमन की शक्ति किस प्रकार है ? सुख दुख का अनुभव तो जीव ही करता है।

उत्तर—ओ कलियुग के वासी मानव, तू क्या यह ना देख रहा।
यदि व्यवस्थित हो कल पुर्जे, करे कार्य सब समझ रहा ॥६२२॥

संसार स्वचालित है सारा सूर्य चन्द्र तू देख रहा।
इसी तरह से कर्म और नो कर्म परिणमन हो रहा ।।६२३।।

तू तो आत्म द्रव्य ज्ञायक है ना करता ना भोग रहा।
पुद्गल मे एकत्व बुद्धिवश तू मिथ्यामति बना रहा ।।६२४।।

हानि वृद्धि पुद्गल की होती इष्ट अनिष्ट तू मान रहा।
यह ही तेरा सुख अरु दुख है तू इसको ना जान रहा ।।६२५।।

जिस प्रकार आज कल स्वचालित मशीने कार्य करती है। उनका व्यवस्थित सेट अप हो तो उससे वे सभी कार्य हो जाते है, जो पहले मानव अपने मस्तिष्क द्वारा ही कर पाता था, जैसे जोड, बाकी, गुणा, भाग, जन्म पत्र बनाना दूर-दूर तक की सूचना देना, मौसम की, तूफान की सूचना देना इत्यादि इत्यादि। उसी प्रकार यह शरीर भी प्रकृति से बना हुआ एक व्यवस्थित सेट अप है। इसलिये शरीर से रूप देखना गन्ध जानना, रस का ज्ञान होना ठण्डा गर्म का ज्ञान होना शब्द सुनना, शब्द बोलना इत्यादि की सूचना आत्मा को देता रहता है, आत्मा तो केवल ज्ञाना दृष्टा है, जिसकी शरीर के निमित्त से सूचना मिलती है उसको जान लेता है देख लेता है, क्रिया तो शरीर ही करता है। शरीर ज्ञाता दृष्टा नही है और आत्मा कर्त्ता नही है। आत्मा ज्ञान दर्शनमय है और शरीर पुद्गल की क्रिया करने वाला है। लेकिन पुद्गल और आत्म प्रदेश दूध पानी की तरह मिले हुए होने के कारण तथा आत्मा के ज्ञान पर आवरण होने के कारण आत्मा पुदगल की क्रिया का कर्त्ता बनकर राग द्वेष मोह व क्रोधादि मै कर रहा हू ऐसा मान लेता है।

हानि या वृद्धि पुद्गल की ही होती है, क्योकि आत्मा के असख्येय प्रदेशो मे से तथा उसके गुणो मे से एक भी प्रदेश व गुण आज तक न कम हुआ और न बढा। लेकिन अज्ञानी जीव पुद्गल की हानि वृद्धि को निज की हानि वृद्धि मानकर उसमे इष्ट, अनिष्ट कल्पना करता है और सुखी-दुखी होता है।

प्रश्न—विकृतिया शुद्ध आत्मा से भिन्न है, तथा विकारी परिणमन विकृतियो का ही है, लेकिन राग द्वेष हमारे परिणमन है यह किस प्रकार प्रतिभासित होता है ?

उत्तर—धनिकराम व्यापार चलाता हानि लाभ का स्वामी है।
लेखक लेखा जोखा रक्खे हानि लाभ से वंचित है ।।६२६।।

लेकिन लेखक हानि लाभ मे यदि दुखमय अरु सुखमय हो।
हानि लाभ उसके न होने पर भी उनसे तन्मय हो ॥६२७॥

हानि लाभ तो धनिकराम के दुख सुख वह मनाता है।
झूंठ मोह जो धनिकराम से उसमे खोया रहता है ॥६२८॥

इसी तरह इस जग के प्राणी ज्ञान बिना सब दुखमय है।
जब तक निज स्वरूप ना समझें तब तक राग द्वेष मय हैं ॥६२९॥

उदाहरण द्वारा समझिये ! धनिकराम का व्यापार चलता है, हानि लाभ उसको ही होता है, लेकिन यदि उसका लेखक धनिकराम के हानि लाभ मे दुखी सुखी हो तो यह उसका अज्ञान ही है, वह अज्ञानवश सुखी दुखी होता है। उसी प्रकार यह ससारी जीव शरीर व अन्य पौद्गलिक सामग्री को निज मानकर उसकी हानि वृद्धि मे अज्ञानवश सुखी दुखी होता रहता है।

प्रश्न—क्या आत्मा निज स्वभाव मे पुरुषार्थ करने पर आता है? अथवा काल लब्धि आने पर सहज मे निज स्वभाव प्राप्त होता है।

उत्तर—

अनादिकाल से जीवराज यह निज स्वरूप से विस्मृत है।
जिस विधि स्वर्ण खान से निकला, अशुद्धियो से मिश्रित है ॥६२६॥

स्वाभाविक विधि से स्वर्ण शुद्धि मे समय अपरिमित लगता है।
पर स्वर्ण पारखी भेद ज्ञान से शुद्ध शीघ्र कर लेता है ॥६२७॥

सद् ज्ञान जागृति होने पर जब भेद ज्ञान हो जाता है।
स्व, पर ज्ञान प्राप्त कर आत्मा पर से मोह हटाता है ॥६२८॥

मोह क्षय हो जाने पर, आत्मा स्वभाव निज पाता है।
पुरुषार्थ ज्ञान आपूरित बनकर लक्ष्य पूर्ति कर देता है ॥६२९॥

काल लब्धि के आने पर् ही निज स्वभाव मिल पाता है।
लेकिन पुरुषार्थ बने तब ही तो काल लाभ हो पाता है ॥६३०॥

सूर्य उदय होने पर ही तो कमल पुष्प खिल पाता है।
लेकिन कमल उगाने पर ही सूर्य लाभ मिल पाता है ॥६३१॥

काल लब्धि इक अवसर है जो पौरुष से ही मिलता है।
पुरुषार्थ बिना अवसर का लाभ ना उठा कोई भी पाता है ॥६३२॥

काल लब्धि के विषय मे पूर्व मे भी लिखा जा चुका है। काल लब्धि एक अवसर है, जिसका लाभ पुरुषार्थ करके उठाया जा सकता है। भगवान महावीर तो तीर्थङ्कर थे। तद्भव मोक्षगामी थे, पर बारह वर्ष तक तप करने के बाद ही केवल ज्ञान हुआ, अत. काल लब्धि के साथ पुरुषार्थ का होना आवश्यक है।

प्रश्न—इस जीव के कर्मो से मुक्त होने मे मोह सबसे बडा बाधक है। अत. उसे हटाने का सही उपाय क्या है?

उत्तर—निज पर का जो भेद जान ले, निज स्वरूप सम्यक् जाने।
मोह ग्रन्थि वह निश्चित तोड़े, निज अरु पर को पहचाने ॥६३३॥

अनादिकाल से मोहादिक विकृतियां निज के संग रहें।
विकार परिणमन विकृतियो का, ज्ञानी यह पहचान रहे ॥६३४॥

मै निश्चय से शुद्ध आत्म हूँ, मुझ से विकृतियां भिन्न रहे।
इस दृढ निश्चय से मोह दूर हो शुद्ध आत्म पर दृष्टि बने ॥६३५॥

इस विधि शुद्ध आत्म बनने का दृढ निश्चय जब पैदा हो।
मोह दूर निश्चित हो जावे इक कण से भी राग न हो ॥६३६॥

मोह पर मे होता है, पर से मोह की बुद्धि तब ही हट सकती है जब स्व और पर का स्वरूप समझले। अपने ज्ञाता दृष्टा स्वभाव को समझले अनन्त चतुष्टय का स्वामी मै ही हू यह जान ले। अनादि काल से अब तक लख चौरासी मे भ्रमण कर अनन्त दुख उठाया है और जब तक मुक्ति नही मिलेगी तब तक दुख ही दुख है। मोह, राग द्वेष व कषायादि भाव हर्ष विषादादि भाव सब चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न होते है। निज स्वरूप प्राप्त कर, सम्पूर्ण विकृतियो से निज को पृथक् कर मोह के आवरण को समाप्त किया जा सकता है।

अनादि काल से मोहादि विकृतिया मेरे साथ पडी हुई है, विकृतियो के निमित्त से ही विकार पैदा होते है। जिस प्रकार मद के निमित्त से मदोन्मत्त की विकृत चेष्टायें होती है। मद का नशा मद के कारण है, इसी प्रकार विकार विकृतियो के सहचर्य के कारण है। मद का नशा स्वोत्पत्ति नहीं है उसी प्रकार विकृतिया आत्मा की स्वोत्पत्ति नही है। इस प्रकार विकार और उनके परिणमन को निज से पृथक् कर अपने शुद्ध स्वभाव को प्राप्त किया जा सकता है।

प्रश्न—राग द्वेष से बचने का क्या उपाय है ?

उत्तर—इष्ट अनिष्ट कल्पना जो संसार वस्तु मे रखता ।
इष्ट वियोग अनिष्ट योग मे सुखमय दुखमय बनता है ॥६३७॥
वह प्राणी रागी द्वेषी है, कर्म बन्ध मे फंसता है ।
सुख दुख मे जो सम बन रहता धीर वीर कहलाता है ॥४३८॥
सुख दुख कर्मोदय के फल है, ज्ञानी इसे समझता है ।
निमित्त कारण जो सन्मुख हो उन्हे न कर्त्ता कहता है ॥६३६॥
इस विधि सत्य समझ कर ज्ञानी राग द्वेष ना करता है ।
राग द्वेष से बचकर वह तो निज संसार घटाता है ॥६४०॥

मैं आत्मा हूँ, अविनाशी हूँ, नित्य हूँ, चेतनस्वरूप हूँ, उपयोग स्वरूप हूँ, दर्शन और ज्ञानमय हूँ । मैं अपने गुणो से पूर्ण हूँ । भूख प्यास सर्दी गर्मी मुझे नही लगती, मैं अग्नि मे नही जल सकता, जल मे नही गल सकता, हवा से नही उड सकता, इस तरह अपने अविनाशी स्वरूप का चिन्तन कर निज स्वरूप को समझे, पुद्गल मेरा हित कारक नही, मकान बाग बगीचा स्वर्ण रत्नादि मेरे उपकारक नही, स्त्री पुत्रादि मेरे उपकारक नही, इस प्रकार स्व और पर का चिन्तन करने पर, पुद्गल मे जो इष्ट अनिष्ट कल्पना होती है वह समाप्त हो जाती है ।

प्रश्न—देव और गुरु मे वत्सलत्व भी क्या राग कहलाता है ?

उत्तर-सद्गुरु है आचार्य कहाते श्रमण वही कहलाते है ।
वाणी और लेखनी द्वारा सत्पथ वे दिखलाते हैं ॥६४१॥
चर्या भी आगम अनुसारी आगम चक्षु वही तो है ।
उनके गुण मे प्रीति दिखाना प्रवचन वत्सलत्व ही है ॥६४२॥
सिद्ध और अरिहन्त जगत् मे सच्चे देव कहाते है ।
शुद्ध आत्मा उनकी होती इस जग के प्रभु वे ही है ॥६४३॥
उनके गुण को जान, निजातम को जो शुद्ध बनाते है ।
वे जग से ना बंध कर रहते कर्म काट शिव पाते है ॥६४४
प्रवचन वत्सलत्व भावना से, तीर्थङ्कर जग मे बनते ह ।
अतः राग शुभ होने पर भी राग इसे ना कहते है ॥६४५॥

यद्यपि प्रवचन वत्सलत्व राग ही है, और राग से बन्ध भी अवश्य होता है, लेकिन यह राग मुक्ति पथ की ओर ही ले जाने वाला है अत इसको राग होने पर भी राग नही कहते ।

प्रश्न—कर्म बन्धन की परिभाषा क्या है ?

उत्तर—पर के प्रति राग भाव रखना या मोह दिखाना बन्धन है।
पर का कर्त्ता स्वामी बनना यह राग उदय का कारण है ॥६४६॥

पर को जो पर ही समझ रहा अरु स्व को ही निज कहता है।
भावों में भी कुछ भेद नहीं अन्दर बाहर सम रहता है ॥६४७॥

ऐसा प्राणी निज को पर के, बन्धन से सदा बचाता है।
पर द्रव्यों से निस्पृह रहकर, वह कर्म निर्जरा करता है ॥६४८॥

भोगों से बन्धन ना होता, उपयोग शुद्ध यदि रखता है।
यदि राग एक कण से ना हो वह कर्म कलंक मिटाता है ॥६४९॥

मुनिराज बाह्य अरु आभ्यन्तर मूर्च्छा का त्यागी होता है।
मुनि जग बन्धन तोड़े सबही वह रमण आतम में करता है ॥६५०॥

त्यागी पर का जो भावो से वह बन्धन सभी हटाता है।
वह पर का यदि उपयोग करे मूर्च्छा ना उससे रखता है ॥६५१॥

ऐसे प्राणी के भावो मे पर से ममत्व हट जाता है।
ममत्व नहीं बन्धन भी नहीं वह मुक्त स्वयं हो जाता है ॥६५२॥

प्रभु कहे राग ही बन्धन है जो स्व पर ज्ञान बिन होता है।
स्व को जानो पर को जानो बिन जाने राग उपजता है ॥६५३॥

वस्तुस्थिति यह है कि आत्मा केवल ज्ञाता दृष्टा है, कर्त्ता नही है। ज्ञाता दृष्टा उसका स्वभाव है, ज्ञान व दर्शन उसके गुण है। अत अपने स्वभाव व गुणो के अनुसार उसने आज तक कोई भी क्रिया नही की। लेकिन अज्ञानी बनकर उसने पर पुद्गल की क्रियाओ को निज क्रिया मान कर राग द्वेष करता हुआ उसका कर्त्ता बनता है। क्रिया का कर्त्ता बनना अर्थात् उस कर्म का कर्त्ता बनना। इस प्रकार जिसका यह कर्त्ता बनता है, उसका बन्ध हो जाता है। यही कर्म बन्धन है।

जिस प्रकार पागल की चेष्टाओ का कर्त्ता पागल ही है यद्यपि वे चेष्टायें पागलपन के कारण उत्पन्न होती है फिर भी उसका फल पागल को ही भोगना पडता है, उसी प्रकार जीव की क्रोधादिक राग द्वेष मोहादिक प्रवृत्तिया मोह के निमित्त से पैदा हुए अज्ञान के कारण है, फिर भी उनका फल जीव को भोगना पडता है। यही कर्म बन्धन व लख चौरासी का भ्रमण ।

प्रश्न — पर का कर्त्ता वनने से क्या तात्पर्य है ?

उत्तर — स्व आत्मा है, उसके गुण है, अरु निज स्वभाव भी स्व ही है।
स्व के प्रदेश है असंख्येय, स्व गुणानुसार क्रिया स्व है ॥६५४॥

आत्मा चेतन अरु ज्ञानमयी उपयोग स्वरूपी होता है।
है रूप हीन, आकार रहित, अरु लिंग रहित भी होता है ॥६५५॥

रस गन्ध शब्द से हीन वह स्पर्श रहित भी होता है।
जो रमण करे निजमे प्रतिक्षण वह ही निजको पा सकता है॥६५६॥

निज का स्वभाव ज्ञाता दृष्टा निज ज्ञान और दर्शन गुण है।
निज क्रिया जानना स्व पर को निज क्रिया देखना स्व पर है ॥६५७॥

स्व आत्मा है, पर पुद्गल अरु धर्मादिक द्रव्य सभी तो हैं।
हैं क्रिया द्रव्य की निजाधीन निज गुण स्वभाववत् ही तो हैं ॥६५८॥

आत्मा अनादि से अज्ञानी मोहाच्छादित है बना हुआ।
विकृतियां उसके संग रहें विकृति परिणति क्रोधादि हुआ ॥६५९॥

विकृतियो मे एकत्व बुद्धि बिन ज्ञान स्व पर के बनी हुई।
विकृतियो का कर्त्ता बनना कर्तृत्व बुद्धि पर कहलाई ॥६६०॥

जैन शासन का सिद्धान्त यह है कि, प्रत्येक द्रव्य अपनी पर्यायो का स्वय ही कर्त्ता होता है। क्योकि पर्याये द्रव्य की उपादान योग्यता के अनुसार वनती है। पर्याय परिणमन मे निमित्त तो मिलते है पर निमित्त कर्त्ता नही होता, द्रव्य को योग्यता जो कि उसके स्वभाव व गुण रूप होती है, वैसी ही पर्याय वनती है। दो पदार्थो या द्रव्यो के सयोग से जो पर्याय वनती है उसमे दोनो ही द्रव्यो का परिणमन स्वतन्त्र रूप से होता है। दोनो द्रव्य अपने-अपने परिणमन के स्वय ही कर्त्ता है।

मनुष्य, देव, नारकी व तिर्यन्च जो पर्याये है इनमे भी जीव का परिणमन पृथक् है और पुद्गल का परिणमन पृथक है। कर्म जो कि पुद्गल है वे पृथक् परिणमन करते है, जीव पृथक् परिणमन करता है। जीव भाव रूप और कर्म द्रव्य रूप परिणमन करते है। क्योकि कर्मो के आवरण से जीव अज्ञानी बना हुआ है अत अज्ञान परिणमन करता है। अज्ञान मोह के निमित्त से पैदा होता है। अज्ञानी जीव मोहादिक विकृतियो का स्वय को कर्त्ता मानता है। इस कर्तृत्व बुद्धि से भावो के अनुसार लख चौरासी मे पृथक्-पृथक् योनियो को धारण करता हुआ ससार मे

भ्रमण कर रहा है। आत्मा जब अपने शुद्ध स्वरूप को जानकर ज्ञाता दृष्टा स्वभाव को पहचान लेता है, तब पाप पुण्य का भी स्वय को कर्ता नही मानता और कर्तृत्व भाव से मुक्त होकर विकृतियो को निज से पृथक् कर शुद्ध बन जाता है।

प्रश्न—सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर भी यह जीव अर्ध पुद्गल परावर्तन काल तक इस ससार मे भ्रमण कर सकता है। इसका क्या कारण है?

उत्तर—लिख पढ़कर उत्तीर्ण बनें, प्रामाणिक भी बन जाते हैं।
उपयोग हटाले यदि ग्रन्थों से, पुनः मूर्ख बन जाते है।।६६१।।
सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लिया, ज्ञानोपयोग में चित्त नहीं।
मिथ्यात्वी नर बने वह फिर, अत भ्रमण फिर करे वही।।६६२।।
सम्यक्त्वी बनने का अवसर, पुनः शीघ्र ही सुलभ नहीं।
अतः मनुज बनने पर भी वह सम्यग्दर्शक बने नहीं।।६६३।।
अर्ध परावर्तन पुद्गल तक भ्रमण करे ही यह नहीं।
पर, कर सकता है बिना ज्ञान सद् इसमें संशय करो नही।।६६४।।

जिस जीव को क्षायिक सम्यग्दर्शन हो जाता है वह पुन. मिथ्यादृष्टि नही बनता। वह अधिक से अधिक आठ-दस भव में मोक्ष चला ही जाता है। लेकिन औपशमिक व क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन प्राप्ति कर्त्ता यदि पुरुषार्थ करके उसको क्षायिक सम्यग्दर्शन न बना सके तो वह अर्ध पुद्गल परावर्तन काल तक इस ससार मे भ्रमण कर सकता है। यह निर्वाण प्राप्ति के लिये उत्कृष्ट काल है, लेकिन भवितव्य अच्छा हो सम्यग्दर्शन पुन. प्राप्त हो जावे तो अर्ध पुद्गल परावर्तन काल से पूर्व भी किसी भी समय निर्वाण प्राप्त कर सकता है।

प्रश्न—क्रोधादिक विकृतियाँ व सभी आस्रव के कारण आत्मा से भिन्न हैं इसे स्पष्ट करें।

उत्तर—शुद्ध आत्म अरु अशुद्ध आत्मा, द्विविध आत्मा होता है।
जिस विधि स्वर्ण अशुद्ध शुद्ध बन दो प्रकार कहलाता है।।६६५।।
स्वर्ण साथ में अन्य धातु मिल शुद्धि हरण कर लेते हैं।
उसी तरह आस्रव विकार भी आत्म शुद्धि हर लेते हैं।।६६६।।

अनादि काल से आत्म संग मे विकृतियाँ हैं पड़ी हुई।
विकार परिणमन विकृतियो का शुद्ध आत्म परिणमन नही ॥६६७॥

लवण मरिच का स्वाद शाक मे लवण मरिच के कारण है।
यद्यपि एकत्व बना उनमे पर गुण तो पृथक् पृथक् ही है ॥६६८॥

धूम्र पटल जब घन होता है सूर्य किरण ढक जाती है।
आस्रव कारण जब भारी हो ज्ञान किरण ढक जाती है ॥६६९॥

धूम्र पृथक है सूर्य किरण से आस्रव ज्ञान किरण से है।
ताम्र पृथक् है स्वर्ण धातु से लवण भिन्न शाको से है ॥६७०॥

पृथक् परिणमन पृथक् द्रव्य का गुण स्वभाव भी न्यारे है।
ज्ञान परिणमन आत्म द्रव्य का क्रोधादिक सब न्यारे है ॥६७१॥

स्वर्ण ताम्र लौह रोग वगैरह के मिश्रण से अशुद्ध कहलाता है, ताम्र लौहादि स्वर्ण के साथ मिले हुए होने पर भी स्वर्ण से भिन्न है, अत न्यारिया ताम्रादि को पृथक् कर स्वर्ण को शुद्ध बना लेता है। इसी प्रकार क्रोधादिक विकृतियाँ सभी आस्रव के सत्तावन भेद आत्मा के साथ अनादिकाल से रहने पर भी आत्मा से भिन्न है, इन विकृतियो का परिणमन ही क्रोधादि भाव है। लेकिन अज्ञानी आत्मा स्व और पर दोनो से अनभिज्ञ है और विकृतियो मे एकत्व बुद्धि कर क्रोधादि विकारो को निज कृति मानता है, और कर्म बन्धन है।

अपना ज्ञान स्वरूपी, स्वरूप समझकर, निज से विपरीत स्वभावी आस्रवो का स्वरूप समझकर विकृतियो को निज से भिन्न मानकर अपने शुद्ध स्वभाव को प्राप्त किया जा सकता है।

प्रश्न—ज्ञान आवरण कैसे दूर हो ?

उत्तर—मोह क्षय हो जाने पर ही ज्ञान आवरण हटता है।
इक कण मे भी मोह नही हो, तभी आवरण हटता है ॥६७२॥

यह आत्मा स्वय ज्ञान है, आत्म आवरण होता है।
जब आत्मा, आत्मा मे न हो, तभी आवरण बनता है ॥६७३॥

स्वयं स्वयं मै जब न रहे, दृष्टि बने तब पर की है।
बाह्य दृष्टि से मोह उपजता, मोह दृष्टि वही तो है ॥६७४॥

अत. आवरण यदि हरना हो, गुण स्वभाव निज के जानो।
निज मे स्थित रहना सीखो इन्द्रिय मन वश मे करलो ॥६७५॥

जो त्रिगुप्त निज मे स्थित हो, ज्ञान आवरण वह हरे।
जो त्रिगुप्त निज मे स्थित हो, कर्म निर्जरा वह करे।।६७६।।

१—निज स्वरूप की समझ, पर स्वरूप की समझ इन दोनो प्रकार के ज्ञान मे जितनी अधिक दृढता होती है, उतना ही मोह आवरण हटता है।

२—परीग्रह बन्धन है, सम्पूर्ण बाह्य परीग्रह का त्यागकर आभ्यन्तर परीग्रह को हटाकर आत्मलीनता से ज्ञान आवरण हटता है।

३ – जब तक पर पदार्थ मे दृष्टि है, तब तक स्व पर दृष्टि नही है। पर दृष्टि छोडकर स्व दृष्टि प्राप्त कर, मोह का क्षय कर ज्ञान आवरण हटाया जा सकता है।

४—मन, वचन और काय की प्राप्ति कर, इन्द्रियो को वश मे कर निज आत्मा को प्राप्त किया जा सकता है, तथा कर्मो का क्षय किया जा सकता है।

प्रश्न—पूर्ण ज्ञान कैसे प्राप्त किया जा सकता है ?

उत्तर—यह सत्य है भव्य सुनो तुम आत्मा हो ज्ञाता दृष्टा।
गुण स्वभाव से अधिक जगत् में द्रव्य कार्य ना कर सकता।।६७७।।

अत अनादि से अद्य अवधि तक तुमने ना पर कार्य किया।
ज्ञान और दर्शन जो गुण है उसी रूप परिणमन किया।।६७८।।

यह असत्य मान्यता है कि पर ने पर का कार्य किया।
ज्ञान आवरण होने से आत्मा निज को ही भूल गया।।६७९।।

यदि हो सूर्य प्रकाश धूम्र संग, अन्धकार ही हुआ करे।
उसी विधि मे क्रोधादिक सग आत्मा क्रोधमय दिखा करे।।६८०।।

सूर्य प्रकाश तम का कारक तो कभी नहीं हो सकता है।
अतः धूम्रवश अन्धकार है ज्ञानी इसे समझता है।।६८१।।

उसी तरह हे भव्य प्राणियो क्रोध आत्मकृति कभी नही।
सभी कषायें अन्य परिणमन आत्म परिणमन वह नहीं।।६८२।।

जब भेद ज्ञान यह जागृत हो अरु निजस्वरूपमय आत्मा हो।
तब निजस्वरूपमय बनकर आत्मा ज्ञान आवरण हर्त्ता हो।।६८३।।

जो निजस्वरूपमय रमण करे अरु निजात्म मे स्थित हो।
एकत्व बुद्धि नो कर्म कर्म मे हटा कर्म क्षय कारक हो।।६८४।।

मोह क्षय उसका हो जावे वह ज्ञान आवरण हर्ता हो ।
पूर्ण ज्ञान तब निश्चित प्रकटे नमन योग्य वह जग मे हो ॥६८५॥

ससार भ्रमण व ज्ञान पर आवरण का सबसे बडा कारण अज्ञान है। आत्मा स्वभाव से व गुणो से ज्ञाता दृष्टा है, आत्मा चेतन द्रव्य है तथा उपयोग लक्षण वाला है। अनादि काल से विजातीय पदार्थ, जो न तो चेतन है और न ज्ञान दर्शनमय है, आत्मा के साथ क्षीर नीर की तरह आत्मा मे अवगाह शक्ति होने से रह रहे है। यह विजातीय पदार्थ (कर्मरूप परिणमित कर्म वर्गणाये है) हर एक द्रव्य व पदार्थ निज स्वभाव व गुणानुसार परिणमन करते है। विजातीय स्व गुणानुरूप परिणमन करते है जैसे क्रोध कर्म क्रोध रूप, माया कर्म माया रूप, वेद कर्म वेद रूप इसी तरह अन्य विकार जिसमे हर्ष व शोक, रति, अरति आदि सब शामिल है स्व गुणानुरूप परिणमन करते है।

लेकिन यह आत्मा अनादि काल से अज्ञानी बना हुआ है, उसको स्व पर का ध्यान नही है अत वह विजातीय विकृतियो के परिणमन को निज परिणमन समझ कर कर्त्ताभाव रखता है। कर्त्ता को दण्ड अवश्य मिलता है, अत अज्ञानी आत्मा विना कसूर किये निज को कर्त्ता समझ कर कर्म बन्ध करता हुआ ससार भ्रमण कर रहा है।

लेकिन जब कर्म पटल अन्त कोडाकोडी सागर मात्र शेप रह जाता है, तब कर्म पटल हल्का होने से आत्मा मे स्व एव पर को जानने की शक्ति प्रकट होती है, तब यह जीव यदि पुरुषार्थ कर सम्यग्दृष्टि बन जावे तथा आत्मा के एव कर्म विकृतियो के स्वरूप को सम्यक् जानकर कर्म विकृतियो का कर्तृत्व भाव छोडकर उनसे प्रज्ञा छैनी द्वारा निज को पृथक् कर, मोह क्षय कर पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

अज्ञानी बन निज घर के बाहर फिर रहे है, एक उदाहरण द्वारा उद्बोधन—

इक राजा था, मद पीता था, पीकर वन मे वह जाता था ।
वन मे शिकार कर पशुओ की वह प्रतिदिन घर आजाता था ॥६८६॥

उसका ही सेवक मटरू था, जो मद मे विष कुछ देता था ।
निज द्वेष भाववश वह मटरू, राजा को कण्टक गिनता था ॥६८७॥

इक दिन मद प्याला अधिक पिया, पीकर राजा वन चला गया।
वन में जाकर मद के विष से निज, स्मृति का था नाश किया ॥६८८॥
वन से घर आना भूल गया, अरु वन में उसने वास किया।
वन के वृक्षो अरु पशुओं से ही, प्यार किया निज मान लिया ॥६८९॥
वह धरती पर ही सोता था, अरु धरती ही सिरहाना था।
वन के पत्ते फल आदिक को, निज भोजन उसने माना था ॥६९०॥
जब राजा वापिस ना आया, रानी ने उसको ढुंढवाया।
पर बीहड वन के होने से, ना उसे ढूंढ कोई पाया ॥६९१॥
यो ही वहु समय बिताया था पर राजा घर ना आया था।
पर दैव योग से एक दिवस, ब्राह्मी पत्तो को खाया था ॥६९२॥
ब्राह्मी के पत्ते खाने से, उसकी स्मृति कुछ ठीक हुई।
वह वनवासी क्यों बना हुआ, ऐसी जिज्ञासा जाग गई ॥६९३॥
दश पाच दिवस ब्राह्मी खाई निज घर की सुध उसको आई।
वह घर तलाश में निकल पड़ा घर की स्मृति घर को लाई ॥६९४॥
इसी तरह यह संसारी निज विस्मृति से ही अटक रहा।
निज स्मृति के न होने से लख चौरासी मे भटक रहा ॥६९५॥
न बंधा हुआ न ढका हुआ न बन्द किसी कमरे में है।
निज विस्मृति से अज्ञानी बन यह भोला जग बन्धन मे है ॥६९६॥
निज की स्मृति कर राजावत् निज आत्मा को जिसने पाया।
निज आत्मा में ही रहा वह प्रभु अक्षय सुख उसने पाया ॥६९७॥

सम्पूर्ण सुखो का स्वामी भी विस्मृति के कारण दुखी है—

कान्चीपुर के नहर क्षेत्र मे एक सेठ भी रहता था।
कान्चीपुर का सेठ बडा था रामलाल कहलाता था ॥६९८॥
अर्थ अपरिमित रामलाल ने खर्च किया गृह बना लिया।
हीरे मोती जड़कर उसको स्वर्ग महल सम रूप दिया ॥६९९॥
लेकिन विधि विधान उल्टा था रामलाल था रुग्ण हुआ।
सन्निपात ज्वर के कारण से निज स्मृति को था गंवा दिया ॥७००॥
ज्वर तो उसका ठीक हो गया पर मस्तिष्क न ठीक हुआ।
निज घर को वह घर ना समझे उसका सुख सब भुला दिया ॥७०१॥

दवा बहुत की निज रमणी अरु पुत्रों ने भी योग दिया।
लेकिन अशुभ कर्म उदयवश उसे न कोई लाभ हुआ ॥७०२॥
उसी महल मे रहता था, परिवारी जन सेवारत था।
लेकिन मूत्र मल त्याग समय भी उसे ज्ञान न रहता था ॥७०३॥
मल अरु मूत्रों मे सना हुआ वह शयन महल मे करता था।
षट् रस व्यजन अरु सूखी रोटी का ज्ञान उसे ना था ॥७०४॥
इस विधि वह अज्ञानी होकर निज आयु क्षय करता था।
सब सुख का मालिक होकर भी दुखमय जीवन ही जीता था ॥७०५॥
इस विधि हे जग के प्राणी तुम सुख की खान स्वयं ही हो।
रामलाल सम अज्ञानी बन दुःखमय जीवन जीते हो ॥७०६॥
निज का तुम श्रद्धान करो दृढ, गुण अनन्तरूप तुम हो।
तीन लोक की ज्ञान शक्ति के पुञ्ज जगत् मे तुम ही हो ॥७०७॥
पहले परिचय करो आत्म का गुण स्वभाव सम्यक् जानो।
राग द्वेष को छोड़, त्रिगुप्त बन, निज का पूर्ण रूप जानो ॥७०८॥
जो ज्ञानी बन निजवासी हो, निजका सब सुख निश्चय ही हो।
निज घर की खिड़की जो खोले, निज परका ज्ञान उसे ही हो ।७०९।
प्रभु कहे जो आत्मस्थित होवे आत्म ज्ञान उसको ही हो।
आत्मस्थित जो हो जावे मोक्षधाम उसका ही हो ॥७१०॥



निष्कर्ष

प्रश्न—मै कौन हूँ ?

उत्तर—मै चेतनस्वरूप जीव द्रव्य हूँ। उपयोग लक्षण से युक्त हूँ मेरा स्वभाव ज्ञाता दृष्टा है । मेरे गुण ज्ञान और दर्शन है ।

प्रश्न—जीव द्रव्य के मुख्य भेद कितने है ?

उत्तर—दो भेद है। एक ससारी दूसरा मुक्त ।

प्रश्न—ससारी किसे कहते है ?

उत्तर—जो ससार मे पर्याये धारण करता हुआ जन्म और मरण का दुख उठाता हुआ लख चौरासी योनियो मे भ्रमण कर रहा है।

प्रश्न—जीव लख चौरासी मे क्यो भ्रमण करता है ?

उत्तर—अज्ञान मुख्य कारण है।

प्रश्न—वह अज्ञान क्या है ?

उत्तर—अपना स्वभाव, अपना स्वरूप, अपने गुणो को न समझना ।

उत्तर—जीव का स्वभाव ज्ञाता दृष्टा है। अर्थात् जीव मे जानने और देखने की शक्ति है। जीव मे अपने गुणानुसार परिणमन करने की शक्ति है जीव के गुण ज्ञान और दर्शन मुख्य है। वह अपने स्वभाव और गुणो से अतिरिक्त अन्य रूप परिणमन नही कर सकता ।

प्रश्न—अन्य परिणमन से क्या प्रयोजन है ?

उत्तर—१. अन्य परिणमन से तात्पर्य है अन्य द्रव्यो के गुणानुसार व स्वभावानुसार परिणमन करना जैसे पुद्गल के गुण रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द है। पुद्गल के गुणानुसार जीव परिणमन नही कर सकता। अर्थात् जीव मिट्टी नही वन सकता । मिट्टी के कार्य घडा, घर, खिलौना आदि नही वन सकता ।

२. जीव केवल जान सकता है और देख सकता है लेकिन जिनको जानता और देखता है उनका कर्त्ता नही वन सकता है। जैसे जीव सम्पूर्ण रूपी घट पटादि को देखता है लेकिन उनका कर्त्ता नही वन सकता।

प्रश्न—क्रोधादिक भावो का कर्त्ता कौन है ?

उत्तर—१—क्रोधादिक भावो का कर्त्ता व्यवहार नय से ससारी जीव है, लेकिन निश्चय नय से जीव के साथ जो अनादि काल से विकृतिया हैं वे ही क्रोधादिक भावो की कर्त्ता है।

२—क्रोधादिक विकृतिया ही विकाररूप परिणमन करती है लेकिन अज्ञानवश जीव उनमे एकत्व बुद्धि रखने के कारण उनको निज विकृति मानकर उनका कर्त्ता बन जाता है।

जैसे कमरे मे अग्नि जलने पर कमरा गर्म हो जाता है लेकिन कमरा नही जला लकडी जली। अग्नि के निमित्त से कमरा गर्म हुआ। इसी प्रकार अनादिकाल से ही क्रोधादिक विकार रूप पौद्गलिक कर्म वर्गणाये आत्मा के साथ रह रही हैं। द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के निमित्त से वे स्वगुणानुरूप परिणमन करती है, लेकिन जीव के साथ दूध मे पानी की तरह मिली हुई होने के कारण जीव के ज्ञान गुण को ढक रक्खा है। ज्ञान गुण के ढक जाने से अज्ञानी हुआ जीव, कर्म वर्गणाये जो पुद्गल है उनके कार्य को निज कार्य मानता रहा है। और इस तरह क्रोधादिक का कर्त्ता बन रहा है।

३—जिस प्रकार जल अग्नि के स्वभाव से विपरीत स्वभाव वाला होने पर भी अग्नि के सहचर्य्य से गर्म प्रतीत होता है तथा जलाने का विपरीत कार्य भी करता है, लेकिन थोडी देर मे अग्नि के हट जाने पर वापिस अपने स्वभाव मे आ जाता है, उसी प्रकार क्रोधरूपी वर्गणाओ के कारण यह आत्मा क्रोधी, मान वर्गणाओ के कारण मानी माया वर्गणाओ के कारण मायाचारी और इसी तरह लोभी कामी आदि दिखाई देता है। तथा इन वर्गणाओ का कार्य जब शान्त हो जाता है तब शान्त दिखाई देता है और इन वर्गणाओ का अभाव हो जाने पर क्रोधादि रहित दिखाई देता है।

प्रश्न—पर पदार्थों मे एकत्व बुद्धि का क्या परिणाम होता है ?

उत्तर—पर पदार्थों मे एकत्व बुद्धि का परिणाम बडा भयकर होता है। क्योकि एकत्व बुद्धि का अर्थ है, पर के कार्य मे निज बुद्धि, काम और कोई करे और कार्य निज का माने तब गुण दोष का स्वामी

स्वय को ही होना पडता है। क्रोध, मान आदि, राग द्वेष मोह आदि विकृतिया है, इनका स्वामी बनने का अर्थ होता है, इन कार्यो से बन्धन। यदि तुम्हारा बाह्य परिग्रह स्त्री पुत्रादिक धन धान्यादिक यश अपयश दया दान भक्ति भाव आदि से राग है तो तुम इनसे बधे हुए हो। उसी प्रकार क्रोधादि कषाये और स्त्री वेद पुरुष वेदादि नो कषायो के अपने आप को स्वामी मानते हो, कर्त्ता मानते हो, उनमे ममत्व बुद्धि रखते हो तो उनसे भी तुम बन्धन मे हो। यह सब क्रियाये है, क्रिया ही कर्म है और यह ही बन्धन है, और यह बन्धन ही एकत्व बुद्धि का परिणाम है।

प्रश्न—क्रोधादिक भावो मे एकत्व बुद्धि से बन्धन होता है यह माना, लेकिन जब क्रोधादि भाव आत्मा मे ही पैदा होते है तब एकत्व बुद्धि तो होगी ही।

उत्तर—हे भव्य जीव तू इस शका को निर्मूल कर, जब तक तुझे शका रहेगी तब तक सम्यक् ज्ञान नही होगा।

१—सेवाले जल मे ही पैदा होती है परन्तु वह जल की कृति नही है जल मे जो अन्य धूल मिट्टी आदि है उनके कारण सेवाले पैदा होती है, स्वय जल के कारण सेवाले पैदा नही होती।

२—जल अग्नि के कारण गर्म होता है, यद्यपि जल मे गर्म होने की स्व योग्यता है, लेकिन उसका निमित्त कारण अग्नि है या यो कहे कि जल के सूक्ष्म कणो को अग्नि के सूक्ष्म कण आवृत कर देते है अत जल गर्म हुआ ऐसा कहने मे आता है।

अर्थात्–१—जल मे सेवाले जो विकृतिया है वे विकृतिया और उन विकृतियों का कारण जल से भिन्न है।

२—जल से अग्नि भिन्न है क्योकि दोनो विपरीत स्वभावी है। जल से अग्नि भिन्न है क्योकि आती है और चली जाती है।

३—स्फटिक मणि स्वय रगीन न होते हुए भी सन्मुख आने वाले रगो के कारण रगीन दिखाई देती है। यद्यपि स्फटिक मणि मे रगीन बनने की स्व योग्यता है परन्तु उसका रंगीन होना पर के निमित्त से ही है।

अत हे भव्य जीव क्रोधादिक व कामादिक भाव पर कारण से है। क्योकि आत्मा ज्ञातादृष्टा स्वभाव वाला होने से क्रोधादि रूप परिणमन नही करता। स्फटिक मणि की तरह क्रोधादि भाव आत्मा मे प्रतिबिम्बित होते है, क्रोधादि भाव शुद्ध आत्मा के स्व परिणमन नही है।

जल मे अन्य विकृतियो के मिश्रण से जिस प्रकार सेवाले पैदा होती है उसी प्रकार आत्म प्रदेशो के साथ विकृतियो के मिश्रण से क्रोधादि भाव पैदा होते है। क्रोधादि, क्रोधादि विकृतियो का स्व परिणमन है आत्मा का स्व परिणमन नही है। व्यवहार मे क्रोधादि भावो को आत्मा का विकारी परिणमन कहा जाता है, निश्चय मे क्रोधादि भाव, आत्मा के साथ रहने वाले विकारो का स्व परिणमन है, आत्मा का परिणमन नही है।

प्रश्न—विकृतिया (कर्म) भाव रूप होती है या द्रव्य रूप ?

उत्तर—विकृतिया द्रव्य रूप और भाव रूप दोनो ही होती है। लेकिन मुख्य भाव रूप ही है। जब मिथ्या भाव या विकृत भाव पैदा होते है, तब भाव कर्म बनते है और भाव कर्मो के निमित्त से द्रव्य कर्म बनते है। इस लोक मे प्रत्येक स्थान पर कर्म वर्गणाये भरी हुई है, वे द्रव्य रूप ही है। वे भाव कर्म के निमित्त से आत्मा के साथ अवगाह शक्ति के कारण बन्धन करती है।

प्रश्न—भाव रूप विकृतिया भाव शुद्धि से हट जाती है, द्रव्य विकृतिया किस प्रकार हटती है ?

उत्तर—कर्म विकृतियो के हटने मे भाव शुद्धि ही मुख्य कारण है। भाव शुद्धि जितनी प्रबल होती है उतने ही द्रव्य कर्म हल्के होते जाते है। द्रव्य कर्म भाव शुद्धि होने पर बन्धन रूप न रहकर अन्य रूप परिणमन कर जाते है। इस प्रकार कर्म बन्धन नष्ट हो जाता है। पूर्ण भावो की शुद्धि होने पर मोहनीय कर्म नष्ट हो जाता है और केवल ज्ञान प्रकट हो जाता है।

प्रश्न—भाव शुद्धि का क्या प्रकार है ?

उत्तर—हर परिस्थिति मे सम बनकर रहना, राग द्वेष रहित होकर रहना, भाव शुद्धि का प्रकार है।

प्रश्न—सम बनकर कैसे रहे ?

उत्तर—इसके लिये जगत् के स्वरूप को समझना आवश्यक है। यह जगत् स्वचालित है। जगत् मे रहने वाले छह द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के अनुसार क्रियाशील होते है। पच परावर्तन और अर्ध पुद्गल परावर्तन को तव ही सही माना जा सकता है जव जगत् को द्रव्य क्षेत्र काल और भाव के अनुसार स्वचालित माना जावे। जैसे एक ससार भ्रमणकारी जीव जिन कर्म वर्गणाओ को जिस क्षेत्र और काल मे भाववश ग्रहण करता है, उन ही कर्म वर्गणाओ को जव पुन ग्रहण करेगा वह अर्ध पुद्गल परावर्तन काल कहलाता है। यह जगत् को और जगत् के द्रव्यो को स्वचालित माना जावेगा तव ही सभव होगा।

सभी द्रव्य स्वचालित क्रिया के अधीन है। अत. अन्य द्रव्यो की क्रिया को (जीवकृत) स्व क्रिया मानना ही मिथ्यात्व है। आत्मा की स्व क्रिया जानना और देखना है सिर्फ जानना और देखना। इस स्वचालित ससार मे हमारे निमित्त से बहुत से कार्य होते रहते है, कार्य प्रत्येक द्रव्य की स्व योग्यता से होते है, कार्य अपने स्वकाल मे होते है। ससारी प्राणी अपनी स्व योग्यता अपने स्वगुणो को नही समझते, पर द्रव्यो की योग्यता और उनके गुणो को नही समझते अत वे पर द्रव्यो के कार्यो को निज कार्य मानते है, और मिथ्याभिमान करते है, उन कार्यो मे राग भाव रखते है और यह अज्ञान ही ससार वन्धन या कर्म बन्धन करता है।

अत हे भव्य जीव तू निजस्वभाव को प्राप्त कर, ज्ञाता-दृष्टा वनकर निजस्वभाव मे रह। ससार मे पर द्रव्यो की क्रिया को निज क्रिया मत मान। पर द्रव्यो की क्रिया मे ऊहापोह मत कर वस सम वन कर रहने का यह ही प्रकार है।

सम वनकर रहने वाले के पर पदार्थ मे राग द्वेष के भाव नही वनते और इस तरह वह सम्यक् चारित्र का पालन करता हुआ नवीन वन्धन से ही नही बचता, बल्कि पूर्व बद्ध कर्मो की निर्जरा भी करता है।

कुन्द कुन्द आचार्य कहते है—प्रवचनसार गाथा—२

निश्चय से चारित्र धर्म है, धर्म नाम समता रसका।
मोह क्षोभ से रहित जीव का, साम्य भाव परिणाम कहा॥

प्रश्न--क्या आत्मज्ञान के बिना सम्यक् चारित्र का पालन होना सभव है ?

उत्तर—चारित्र के पूर्व सम्यक् विशेषण लगाने का अर्थ होता है कि उसको सम्यक्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हो चुका है। सम्यक् दर्शन सात तत्वो मे श्रद्धान के बिना नही होता। जो तत्वो को जानकर पूर्ण श्रद्धान करता है उसको आत्म परिचय और आत्म श्रद्धा अवश्य होती है और आत्मानुभूति भी उसको हो ही जाती है। यह ही आत्मज्ञान है, आत्मानुभूति और आत्मस्थिति आत्मज्ञान और सम्यक् चारित्र दोनो है।

प्रश्न—उपादान कारण और निमित्त कारण को स्पष्ट करे।

उत्तर—उपादान द्रव्य की सहज योग्यता को कहते है, वह योग्यता उस द्रव्य के स्वभाव और गुणानुसार होती है। जैसे अग्नि मे जलाने की सहज योग्यता है। पुद्गल मे रूप रस गन्ध स्पर्श और शब्द का होना उसकी सहज योग्यता है। जीव द्रव्य मे जानने और देखने की सहज योग्यता है। द्रव्य की उपादान शक्ति उस द्रव्य मे सदा रहती है, कभी उससे हटती नही, नष्ट होती नही। द्रव्य की यह योग्यता क्षेत्र काल भाव के अनुसार पर्याय रूप से पृथक् २ दिखाई देती है, जैसे मिट्टी से घडा बनता है, खिलौना बनता है, घर बनता है। लेकिन अनेक पर्याय धारण करने पर भी मिट्टी की स्व योग्यता नष्ट नही हुई, कम भी नही हुई, प्रत्येक पर्याय मे मिट्टी मिट्टी ही रहती है, मिट्टी की पौद्गलिक योग्यता न क्षीण होती है और न न्यून होती है। इसी प्रकार ज्ञान और दर्शन गुण जीव की सहज योग्यता है, यह योग्यता अरिहन्त और सिद्ध पर्याय मे पूर्ण रूप से रहती है, यह योग्यता देव से लेकर एकेन्द्रिय तक निगोदिया जीव तक मे रहती है। व्यवहार से तो पर्यायो मे यह योग्यता कम और अधिक होती रहती है, परन्तु निश्चय से द्रव्य की अपेक्षा से निगोदिया जीव मे भी पूर्ण योग्यता सिद्ध के समान ही रहती है। योग्यता ढक जाय या तिरोहित हो जावे पर उसका अस्तित्व नष्ट नही होता कम भी नही होता, परिवर्तित भी नही होता बस यह योग्यता ही उपादान योग्यता कहलाती है।

निमित्त कारण सयोग रूप कारणो को कहते है। जैसे मिट्टी से घडा बनने की स्व क्षेत्र और स्व काल मे योग्यता उत्पन्न

हुई और उसको कुम्हार, चक्र, कुलाल, सूत्र आदि सयोग कारण मिल गये और वह मिट्टी घडा बन गई।

इसी प्रकार इस जीव को भी उसके स्वकाल और क्षेत्र में वैसे ही भाव बने और वह देव, मनुष्य, तिर्यञ्च या नारकी पर्याय मे उत्पन्न हुआ।

जब जीव मे क्षेत्र काल और भाव के अनुसार ज्ञान का आवरण हटने की योग्यता पैदा हुई केवल ज्ञानी बनने की योग्यता पैदा हुई तब वैसे ही निमित्त मिले। सद् शास्त्र का स्वाध्याय किया, सद् गुरु के वचन सुनने को मिले, शरीर का योग्य संहनन मिला और ज्ञान का आवरण हटा और ज्ञान प्रकट हुआ।

इस तरह मुख्य तो द्रव्य की उपादान योग्यता ही है। उपादान की योग्यता के बिना तीन काल मे भी कार्य नही बनता, जैसे अभव्य कभी मोक्ष नही जाता, और उपादान मे योग्यता होती है तो उसको क्षेत्र काल और भाव की योग्यता भी मिल जाती है और निमित्त कारण भी मिल जाते है।

अब एक तो यह सिद्ध हुआ कि द्रव्य मे योग्यता उसके गुणानुसार होती है, उसके गुणानुसार ही उसमे क्रिया होती है। द्रव्य अपनी गुणानुसारिणी क्रिया का कर्त्ता या स्वामी होता है। द्रव्य की स्व योग्यता के अनुसार उसको क्षेत्र काल और भाव सम्बन्धी योग्यता प्राप्त होती है, तथा द्रव्य क्षेत्र काल और भाव सम्बन्धी योग्यता के मिलने पर निमित्त कारण अवश्य मिल जाते है। द्रव्य स्वय ही अपनी गुणानुसारिणी क्रिया का कर्त्ता होता है। निमित्त को कर्त्ता नही माना जाता क्योकि दूसरे द्रव्य के गुणानुसार क्रिया दूसरा द्रव्य कभी भी तीन काल मे भी नही कर सकता।

अब कर्त्ता शब्द की परिभाषा समझने की आवश्यकता है। प्रत्येक द्रव्य स्व स्वभाव और गुणानुसार ही परिणमन करता है और स्व परिणमन का वह कर्त्ता या स्वामी माना जाता है। आत्मा ज्ञान और दर्शन गुण वाला है और जानना और देखना क्रिया का आत्मा कर्त्ता होता है। क्रोधादिक विकृतियो का कर्त्ता आत्मा को इसलिये नही माना जाता कि आत्मा कभी क्रोध नही करता मान नही करता मायाचारी नही करता लोभ मोह आदि

नही करता क्योकि यह सब आत्मा के स्वभाव व गुण से विपरीत क्रियायें है। आत्मा के साथ जो अनादि काल से विकृतिया रह रही है, उन विकृतियो का परिणमन ही क्रोधादिक होते है।

प्रश्न—आत्मा का क्या अर्थ है ? क्या शुद्ध आत्मा ही वास्तविक आत्मा है ?

उत्तर—हा शुद्ध आत्मा ही वास्तविक आत्मा है। जैसे सौ टिन्च स्वर्ण ही शुद्ध स्वर्ण है। जिस प्रकार अन्य एक कण के भी विना मिश्रण वाला जल ही शुद्ध जल है। उसी प्रकार सम्पूर्ण विकारो से रहित आत्मा ही शुद्ध आत्मा है। आत्मा का अर्थ शुद्ध आत्मा ही है, आत्मा का अर्थ अशुद्ध आत्मा, विकारो के सहित वाला आत्मा नही है।

प्रश्न—शुद्ध आत्मा ही वास्तविक आत्मा है, इससे आपका क्या प्रयोजन है।

उत्तर—हे भव्य जीव ! एक तो इससे भेद ज्ञान होता है, आत्मा से विकार पृथक् है। शुद्ध आत्मा ज्ञाता दृष्टा ही होता है—वास्तविक आत्मा जानने देखने रूप ही क्रिया करता है, अर्थात् अन्य शारीरिक क्रियाये जैसे भोजन, पान, वोलना, मल मूत्र विसर्जन, शयन आदि आत्मा की क्रिया नही है। मकान, कपडा, कागज, कल पुर्जे बनाना आत्मा की क्रियाये नही है। अत आत्मा इन क्रियाओ का कर्त्ता भी नही है। शुद्ध आत्मा मे पर पदार्थो से राग द्वेप नही हे अत आत्मा राग द्वेष का भी कर्त्ता नही है।

दूसरे आत्मा अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन अनन्त वीर्य और अनन्त सुख स्वरूप है यह ज्ञान होता है। अर्थात् आत्मा स्वभाव से ही अनन्त ज्ञान दर्शन वीर्य एव सुख स्वरूप है।

इस प्रकार आत्मा जैसा है वैसा ही ज्ञान होना ही आत्म प्राप्ति का उपाय है।

प्रश्न—क्या हम अशुद्ध आत्मा को आत्मा न माने ?

उत्तर—हम यह कह रहे है कि अशुद्ध आत्मा मे शुद्ध आत्मा और अशुद्धिया (कर्म विकृतियो) को भिन्न-भिन्न जाने। जो दोनो को जानेगा वह वह ही अपने शुद्ध आत्मा को जानेगा और शुद्ध स्वरूप को भिन्न जानना ही लक्ष्य है। जिस प्रकार न्यारिया यह जानता है कि

इसमे शुद्ध स्वर्ण बारह आना और खोट चार आना है। उसकी दृष्टि बारह आने शुद्ध स्वर्ण पर है अत उसका मूल्याकन भी ठीक करता है और ताम्रादिक अशुद्धियो को प्रथक् कर शुद्ध स्वर्ण को प्राप्त कर लेता है।

प्रश्न—क्या शुद्ध आत्मा का ज्ञान ही पर्याप्त है ?

उत्तर—श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र तीनो एक भी है और पृथक् भी है। चारित्र लक्ष्य प्राप्ति मे बडा कारण माना जाता है, क्योकि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान होने पर भी यदि चारित्र न हो तो मुक्ति नही मिलती, लेकिन सम्यग्ज्ञान होने पर ही चारित्र सम्यक् विशेषण का अधिकारी होता है, अत सम्यग्ज्ञान होना आवश्यक है। यदि जल मे तैरने का ज्ञान हो न होगा तो तैरेगा कैसे ? अतः तैरने का ज्ञान होना आवश्यक है। लेकिन अकेले ज्ञान से भी लक्ष्य प्राप्ति नही है अतः चारित्र पालना भी उतना ही आवश्यक है जितनी ज्ञान प्राप्ति।

प्रश्न—शुद्ध आत्मा केवल ज्ञाता दृष्टा है, किसी पर क्रिया का कर्त्ता नही है। लेकिन ससार मे प्रत्येक कार्य के लिये मैं कर रहा हू ऐसे भाव क्यो बनते है ? इस कर्त्तृत्व भाव से बचने के लिये क्या करना चाहिये।

उत्तर—जब तुम को यह ज्ञान हो गया है कि तुम अर्थात् आत्मा केवल ज्ञाता दृष्टा ही है, तब यदि मुख से यह उच्चारण करते रहो कि यह कार्य मैंने किया इसमे दोप नही है, लेकिन तुम अपने आपको शुद्ध आत्मा ही मानो, तथा तुम्हारे भावो मे स्वय को पर द्रव्य की क्रिया का कर्त्ता न मानकर निमित्त ही मानो। तुम्हारी भाव शुद्धि तुम्हारे व्यवहार कथन का दोष दूर करने मे समर्थ होगी लेकिन प्रतिक्षण ज्ञानी बनकर रहो, ज्ञान अवस्था पूर्ण दोषो को दूर करने मे समर्थ है।

प्रश्न—आत्मा के प्रमुख गुण ज्ञान और दर्शन है, इन पर आवरण कैसे आ जाता है ?

उत्तर—आवरण दो प्रकार का होता है। एक आवरण योग्यता सम्बन्धी, दूसरा आवरण योग्यता के उपयोग सम्बन्धी। अनादि से ही आत्मा के ज्ञान और दर्शन गुण पर आवरण आया हुआ है। अर्थात्

आत्मा मे अनादि से ही अनन्त ज्ञान दर्शन सम्बन्धी योग्यता छिपी हुई है। आत्मा के स्वभाव मे अनन्त ज्ञान सम्बन्धी योग्यता अवश्य है, लेकिन एक समय भी ऐसा नही आया जव यह निज स्वभाव मे आया हो। निज स्वभाव मे न आने से इसकी योग्यता छिपी हुई है, जैसे जल के नीचे यदि अग्नि वरावर जलती रहे तो उसकी शीतल गुण सम्वन्धी योग्यता छिपी ही रहेगी। जल के स्वभाव मे शीतलता अवश्य है, लेकिन अग्नि का सहचर्य्य होने से जल को निज स्वभाव मे आने का अवसर नही मिल रहा है। इसी प्रकार आत्मा के साथ जो राग द्वेष मोह अवगुण है उनके कारण से आत्मा को निज स्वभाव मे आने का अवसर नही मिल रहा है। इन अवगुणो से एकत्व वुद्धि वनी हुई है। शुद्ध आत्मा और अवगुणो की पृथक्त्व वुद्धि के विना निज स्वभाव की प्राप्ति सभव नही है।

दूसरा आवरण सम्बन्धी कारण योग्यता का उपयोग न करने का है। जिस प्रकार विद्यालय मे प्रवेश पाने वाले सभी छात्रो के लिये ज्ञान प्राप्त करने का समान अवसर विद्यमान है, लेकिन कुछ छात्र खेल-कूद मे, कुछ कुप्रवृत्तियो मे लगे रहने से अवसर का लाभ नही उठा पाते, और जो दत्त चित्त होकर पढते है वे अवसर का लाभ उठाकर विद्वान बन जाते है। इसी प्रकार मनुष्य जैसी दुर्लभ पर्याय प्राप्त कर लेने पर भी, सदुपदेश और सद् शास्त्रो के होने पर भी जो आरम्भ परीग्रह मे ही लगे रहते है आत्म स्वरूप को समझने का प्रयत्न ही नही करते वे मनुष्य भव का लाभ नही उठा पाते। अतीन्द्रिय ज्ञान ही अनन्त हो सकता है, अनन्त ज्ञान की योग्यता आत्मा मे विद्यमान है, लेकिन जो आत्मा का स्वरूप जानकर आत्म दृष्टि से जानने और देखने का प्रयत्न करेगा उसी को आत्म दृष्टि प्राप्त होगी और वह ही आत्मा की अनन्त ज्ञान दर्शन सम्बन्धी योग्यता का लाभ उठा पावेगा। जो योग्यता का लाभ उठावेगा वह देखेगा कि आवरण है ही नही, आवरण केवल उसके प्रमाद और प्रमाद से उत्पन्न अज्ञान के कारण है। अत हे भव्य जीव तू निज स्वरूप को जान और उसका उपयोग कर और देख तेरा अनन्त ज्ञान अवश्य प्रकट होगा।

पद्म प्रभमल धारि देव नियमसार की तात्पर्य वृत्ति नामक टीका में कहते हैं—

अनिर्गमतुल बोधाधीनमात्मान मात्मा ।
सहज गुण मणीनामकर तत्व सारम् ।।
निज परिणति शर्माम्भोधि मञ्जन्त मेन ।
भजतु भव विमुक्त्यै भव्यता प्रेरितो य. ।।श्लोक ६४।।

जो भव्यता से प्रेरित है वह आत्मा निज को अर्थात् स्वय आत्मा को भजो, जो अतुल ज्ञान स्वरूप है तथा सहज गुण रूपी मणि की खान है। जो तत्वो का सार है और जो निज परिणत सुख सागर मे मग्न होता है ।

अमृतगीति मे योगीन्द्र देव—

यदि चलति कथचिन्मानस स्वरूपद् ,
भ्रमति बहिरतस्ते सर्व दोष प्रसंग. ।
नदनवरतमंतर्मग्न सविग्न चित्तो,
भव भवसिभवान्तस्थायिधानाधियस्त्वम् ।।श्लोक ६४।।

यदि किसी प्रकार मन निज स्वरूप से चलित हो और उससे बाहर भटके तो तुझे सर्व दोष का प्रसग आता है, इसलिये तू सतत अन्तर्मग्न और विरक्त चित्त वाला हो कि जिससे तू मोक्ष रूपी स्थायी धाम का अधिपति बनेगा ।



लेखक का भव्य जनों से निवेदन

आत्मानुशीलनम् ग्रन्थ यह भावों के वश ही लिखा गया।
मैं हूँ निमित्त कारण केवल कर्तृत्व भाव ना कभी रहा ॥१॥

तत्वों का चिन्तन इसमे है यह चिन्तनवश ही लिखा गया।
जो पढ़े सुने इनको समझे उसने पावन निज आत्म किया ॥२॥

प्रभु महावीर की दिव्य ध्वनि गौतम गणधर ने समझी थी।
गौतम ने ध्वनि को सुनकर जगहित उसको समझायी थी ॥३॥

करणानुयोग मे भूतवली अरु पुष्पदन्त ने उसे लिखा।
द्रव्यानुयोग मे कुन्दकुन्द आचार्य प्रभु ने वहुत लिखा ॥४॥

उमा स्वामी ने रचना कर तत्वार्थ सूत्र मे गूंथ दिया।
समन्तभद्र अकलंक आदि ने जग को गहरा ज्ञान दिया ॥५॥

इन सब ज्ञानी आचार्यों ने जगहित निज जीवन लगा दिया।
हम आज उन्हीं से उपकृत हैं जिन करुणावश यह ज्ञान हुआ ॥६॥

टोडरमल से विद्वान हुए अरु मोक्ष मार्ग प्रकाश किया।
प्रभु नमन करे इन सबको ही जिन कारण आत्म प्रकाश हुआ ॥७॥

इस ज्ञान का क्या कोई माप करे है यह अनन्त निज आत्मा मे।
जो तत्व ज्ञान श्रद्धा करले वह सम्यग्दर्शक इस जग मे ॥८॥

प्रभु करे प्रार्थना भव्यों से इस आत्म ग्रन्थ को वह पढे।
यह आत्मज्ञान करवाता है यह ज्ञान सुभाषित इसे पढें ॥९॥

इसमे जो ज्ञान प्रकाश हुआ वह आगम के अनुसार हुआ।
एक एक शब्द इसका आगम शंका को ना स्थान दिया ॥१०॥



परिचयात्मक पद्य

भारत में जयपुर नगर बना विख्यात यह सुन्दरता से।
जनता कालोनी मे निवास प्रभु करता वर्ष सप्त दश से ।।

गृह संख्या अष्टविंशति ए सर्किल कोने में स्थित है।
जिन मन्दिर भी नजदीक बना शोभा जिसकी अति अद्भुत है ।।

गृह सीमा मे ही है दुकान जहां बैठ चिकित्सा कार्य बने।
इस ही अति पावन भूमि मे ज्ञानोदयवश कुछ लेख बने ।।

जिनवाणी का स्वाध्याय बने चिन्तन से मन अति शुद्ध बने।
जो भाव बनें अति ज्ञान पूर्ण उनको लिखकर सन्तोष बने ।।
आत्मानुशीलनम् ग्रन्थ यह इस ही दुकान मे लिखा गया।
प्रभु महावीर की ज्ञान किरण का सूक्ष्म अंश यह लिखा गया।।

श्री वीर प्रभु का संवत् तो पच्चीस सौ बारह गति में है।
है माघकृष्ण पन्चमी तिथि यह ग्रन्थ समर्पित जगहित है।।

कक्षा पास करने के वाद जयपुर श्री दि. जैन सस्कृत कालेज मे प० चैनसुखदास जी के पास छोड दिया। दोनो भाई छात्रावास मे ही तेरह वर्ष तक रहे। कस्तूरचन्दजी एम. ए. शास्त्री तथा वैद्यजी ने भिषगाचार्य परीक्षा उत्तीर्ण की। वैद्यजी नौ वर्ष श्री दि. जैन औषधालय मे सेवारत रहकर राजकीय आयुर्वेद विभाग मे चले गये। आयुर्वेद विभाग मे पच्चीस वर्ष तक सेवारत रहकर निवृत्त हो गये। चिकित्सा क्षेत्र मे भी आप यशस्वी वने क्योकि आपका चिकित्सा मे गहन अनुभव एव मधुर व्यवहार है। आप प० चैनसुखदासजी के मुख्य एव प्रिय शिष्यो मे है।

करीव पच्चीस वर्ष से आपकी धार्मिक रुचि बलवती रही है। लेकिन राज्य सेवा से निवृत्त होने के बाद तो आपका जीवन पूर्ण अध्यात्मिक वन गया, आत्मा क्या है, कर्म वन्धन क्या है मोक्ष मार्ग क्या है ऐसे प्रश्नो का समाधान प्राप्त करने के लिये रात दिन समयसार, प्रवचनसार, पचास्तिकाय, मोक्ष मार्ग प्रकाश आदि ग्रन्थो के स्वाध्याय मे रत रहने लगे। स्वाध्याय मे चिन्तन मनन के साथ आप आध्यात्मिक कविताओ की रचना करने लगे। करीब सौ से अधिक कवितायें प्रकाशित होने की प्रतीक्षा मे है। आपने स्वज्ञान वर्धन एव विषय की स्पष्टता के लिये अनेक लेख लिखे हे। आत्मविनिश्चम् आपकी सर्व प्रथम गद्य रचना है। आपने समयसार, प्रवचनसार एव पचास्तिकाय का पद्यानुवाद कर आत्मानुशीलनम् की रचना की है। यह रचना मेरी दृष्टि मे अद्भुत है। जो भी इसका स्वाध्याय करेगा वह निश्चित ही आत्मज्ञान प्राप्त कर सकेगा ऐसी मेरी मान्यता है। मै इनके उज्ज्वल भविष्य की कामना करता हू।

—डा. प्रेमचन्द्र जैन

पाठ को शुद्ध कर पढ़ें

पृ. सं.	पद्य सं या लाइन	अशुद्ध पाठ	शुद्ध पाठ
६	—	शुद्ध स्वण	शुद्ध स्वर्ण
८	१३ लाइन	ावो	भावो
९	पद्य १९	विकल्प ह	विकल्प ही
११	२ लाइन	मोह हो	मोह ही
१४	३७ पद्य	करलो	करो अरु
१७	१ लाइन	कर्त्ता हैं	कर्त्ता हूं
२१	१८ लाइन (४७ पद्य के नीचे)	उदय से मुख	उदय से दुख
		उन्मादी वन जाता	उन्मादी है वन् जात।
		नही	ना
		करता	करता है
		किये	किया
		नही	ना
		नही	ना
		हो	होवे
		प्राति	प्राप्ति
		[illegible]	इक
		ये	उन
		भविन्य	भविष्य
		निज को हो	निज को ही
		मिथ्यात्व के भेद	मिथ्यात्व दूर करने का उपाय
		[illegible]	ज्ञान भी उस विध हो
		[illegible]	दृष्टि अहो
		[illegible]	परिग्रह
		[illegible]	निज
		[illegible]	दर्शन
		[illegible]	वन्दन
		[illegible]	ज्ञान

११२	पद्य ३३७	गास्ज्ञ	शास्त्र
११७	,, ३६२	बने	बन
१२३	,, ३८१	अशुभ कम	अशुभ कर्म
१२५	,, ३९१	कर्त्तत्व	कर्तृत्व
१२७	,, ४०१	बनता है	बनना है
१२८	,, ४०८	पहवाना	पहूचाना
१३०	,, ४१५	होता ह	होता है
,,	,, ४१६	चलती ह	चलती है
१४४	,, ४९०	निज का है	निज का ही है
१४९	,, ५२१	स्वभव	स्वभाव
१५३	लाइन ११	कल्ना	कल्पना
,,	,, २३	जेयर	जेवर
१५४	पद्य ५५०	दे हो जाते है	वे हो जाते है
१५८	लाइन १८	सुख कारक	दुख कारक
१६०	,, ३०	उपेदान	उपादान
१६२	पद्य ६०९	जो	जो है
१६३	,, ६१६	वह समझता है	वह सही समझता है
,,	,, ६२०	निज मे दृष्टि	निज मे जो दृष्टि
,,	लाइन २१	अपने आप	अपने आपको
१६८	,, ३०	भ्रमण	भ्रमण है
१७१	,, ११	रोग	रागा
,,	,, १८	कर्म बन्धन है	कर्म बन्धन करता है
१७२	,, ११	काय की प्राप्ति कर	काय को वश मे कर
१७५	पद्य ७०९	निश्चय होती	निश्चय है
,,	,, ७१०	आत्मस्थित होवे	आत्मस्थित हो
,,	,,	हो जावे	हो जावे नर
१७६	,, १५	गुण और दर्शन	गुण ज्ञान और दर्शन

"प्रभु तुम प्रभु बन जावोजी"



आत्म दृष्टि को प्राप्त करो तुम, समय व्यर्थ मत खोवोजी।
निज विस्मृति अभिशाप बना है, निज स्मृति को पावोजी ॥१॥
यह नर भव अनमोल तुम्हारा, सद् उपयोग लगावोजी।
क्षण हैं सारे माणक मोती, जल्दी माला पोवोजी ॥२॥
जीव और पुद्गल का नाता, अब मत अधिक निभावोजी।
सत् स्वरूप है शुद्ध आत्मा, बन्धन भाव हटावोजी ॥३॥
सहज सुगम है आत्म तुम्हारा, बिन परिचय भरमावोजी।
कर लो परिचय देखो निज को, निज पाये सुख पावोजी ॥४॥
खुद को खोजो खोजी बन कर, संशय भाव मिटावोजी।
मोक्ष द्वार है निज अनुभव ही दृढ निश्चय मन लावोजी ॥५॥
कार्य सिद्ध हो जावेगा यदि, भय को मन न लावोजी।
प्रतिक्षण निज मे रहना सीखो, 'प्रभु' तुम प्रभु बन जावोजी ॥६॥